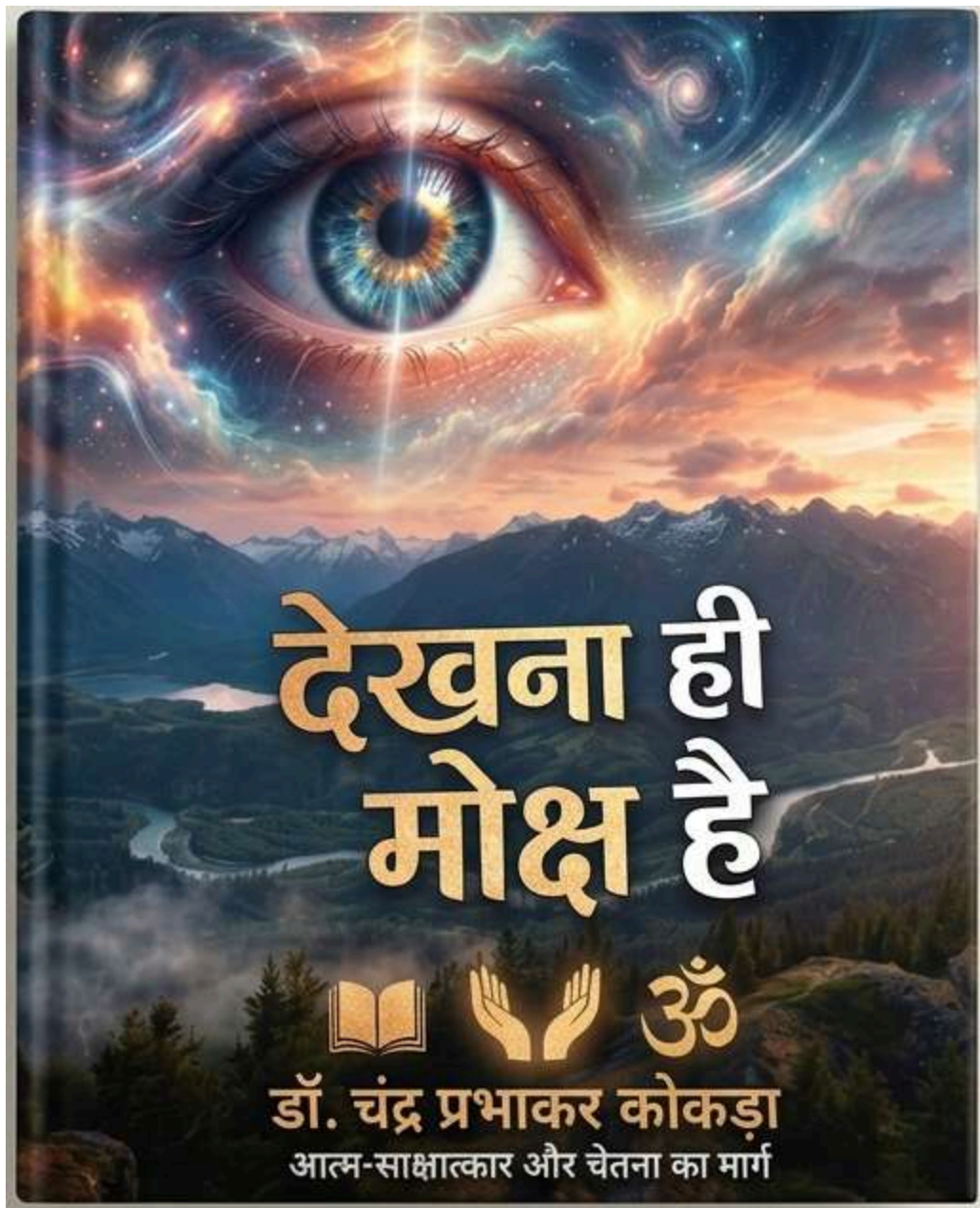




देखना ही मोक्ष है

डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

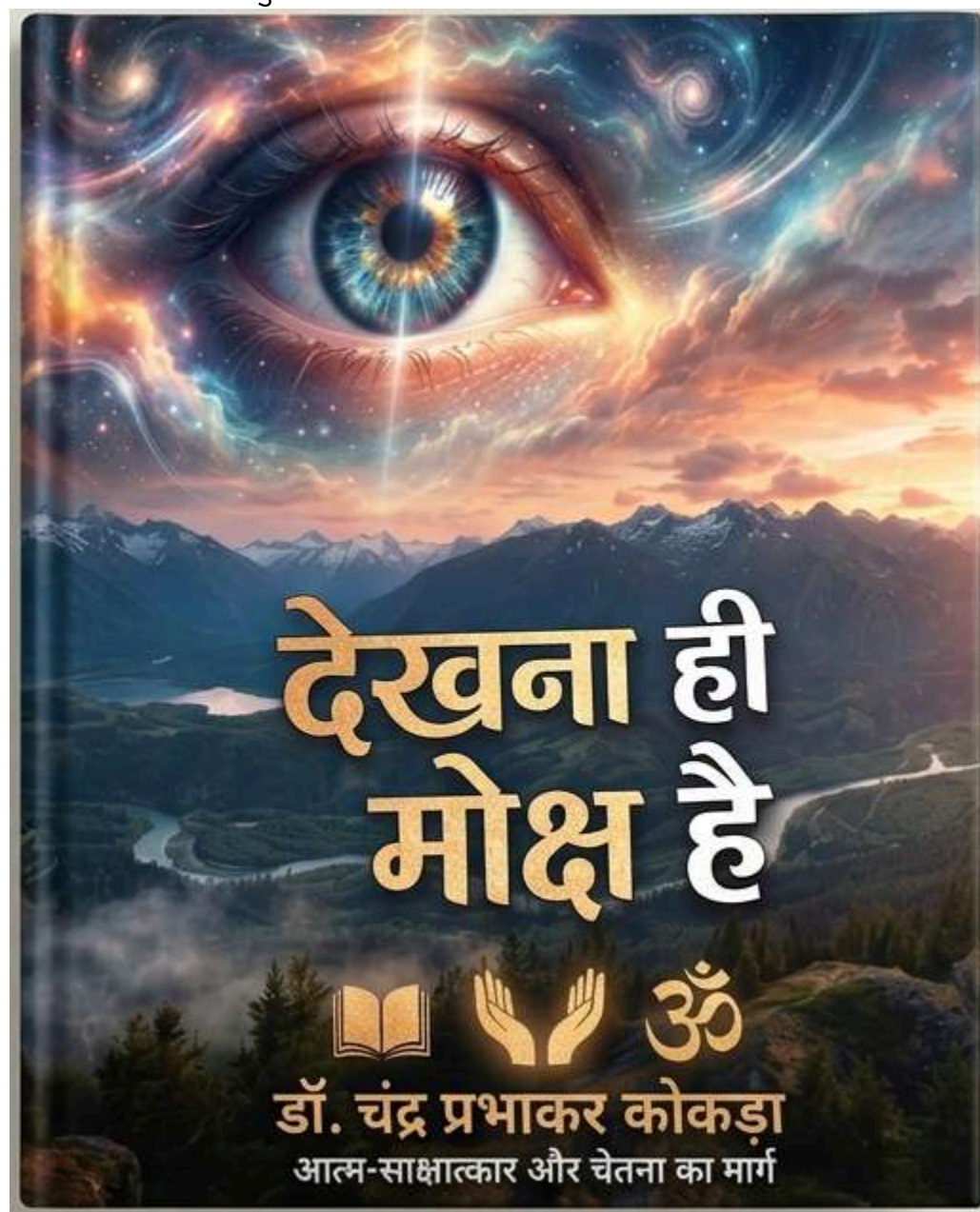
अनुक्रमणिका

अ.क्र. प्राक्कथन
विषय दर्पण

4
पृ.सं.

1	दीपक की उपमा	7
2	मैं कुछ नहीं	9
3	शरीर है तो	10
4	संप्रदायों का आवरण	11
5	दो मुख्य धारा	12
6	मनुष्य के जन्म को	15
7	थकावट के बाद	16
8	कर्म नीति और परम नैतिकता	18
9	मृत्यु, शून्यता और महा-मौन	19
10	संसार भर के	20
11	अद्वैत बनाम द्वैत	25
12	संसार के त्याग	29
13	सद्गुरु का अनुग्रह	31
14	धार्मिक कर्म कांड	32
15	पुनर्जन्म	33
16	सृष्टि रचियता	34
17	नैतिकता	36
18	'प्रार्थना'	36
19	जीवन का 'उद्देश्य'	37
20	योग सिद्धियां	39
21	ब्राह्ममुहूर्त	39
22	दर्शन'	40
23	बन्धन	41
24	कुंडली जागरण	42
25	तीर्थ यात्रा	43
26	काल/'समय	45
27	नाद/ध्वनि	45
28	वासना, इच्छा'	46
29	मन का विलोप	47
30	स्वर्ग नर्क	48
31	गुरुदीक्षा	49
32	धार्मिक ग्रंथ	49
33	नैतिकता'	50
34	अहंकार'	51
35	पुरुषार्थ	52
36	सत्य, अभिव्यक्ति और 'मौन	53
37	आत्मा की अमरता	54
38	अलौकिक अनुभूतियां	55
39	ईश्वरीय अवतार	56
40	पवित्र स्थान	58
41	प्रयास, साधन'	59
42	संसार त्याग	60
43	मुक्ति, 'लालच'	61
44	सहज शून्यता	62

45	नियंत्रण भ्रम	63
46	प्रार्थना	64
47	आकांक्षा, खोज, तृष्णा	65
48	स्वभाव	66
49	संसार में हस्तक्षेप	67
50	अनुभव विसर्जन	68



देखना ही 'मोक्ष' है

प्रकृति की लीला और साक्षी भाव का सहज यथार्थ

लेखक: डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

'मोक्ष कोई शरीर छूटने के बाद की घटना या काल्पनिक परलोक नहीं है। जब मनुष्य जीवन की हर व्यर्थ खोज और नियंत्रण से थक जाता है, तो उसके भीतर 'साक्षी भाव' का स्वाभाविक उदय होता है। सुख-दुख, ज्ञानी-अज्ञानी और जीवन-मृत्यु सब प्रकृति की अनवरत लीला हैं। इस लीला को बिना किसी निर्णय और कर्ता के अहंकार के केवल देखना ही वास्तविक मोक्ष है।

प्राक्कथन

यह पुस्तक किसी शास्त्रीय पांडित्य, शुष्क ज्ञान या किताबी सिद्धांतों का संग्रह नहीं है, बल्कि जीवन और प्रकृति के प्रत्यक्ष यथार्थ को उसकी नग्न और सहजता में देखने का एक निष्पक्ष प्रयास है।

संसार भर के धर्मशास्त्रों, दर्शनों और गुरुओं ने ईश्वर, अवतार, कर्म, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य, मोक्ष और साधना के नाम पर मनुष्य के मन पर विचारों का एक भारी-भरकम बोझ लाद दिया है। मनुष्य जीवन भर किसी न किसी खोज में भटकता रहता है—कभी सुख पाने के लिए, तो कभी तथाकथित आत्मिक शांति या आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए। परंतु इस निरंतर भटकाव के बाद भी मन के द्वंद्व और तनाव शांत नहीं होते।

इस संवाद-यात्रा का एकमात्र उद्देश्य उन्हीं पौराणिक और दार्शनिक अवधारणाओं को सत्य और अनुभव की प्रखर कसौटी पर परखना रहा है।

इस परिचर्चा के मूल में एक अत्यंत साधारण और सहज यथार्थ प्रकट हुआ है: यह संपूर्ण संसार और इसका संपूर्ण प्रपंच—सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, अच्छा-बुरा, ज्ञान-अज्ञान—केवल और केवल प्रकृति की अनवरत लीला है। प्रकृति विरोधाभासों से भरी पड़ी है, और इस पर मनुष्य की अपनी इच्छा या ज़ोर का कोई वश नहीं है।

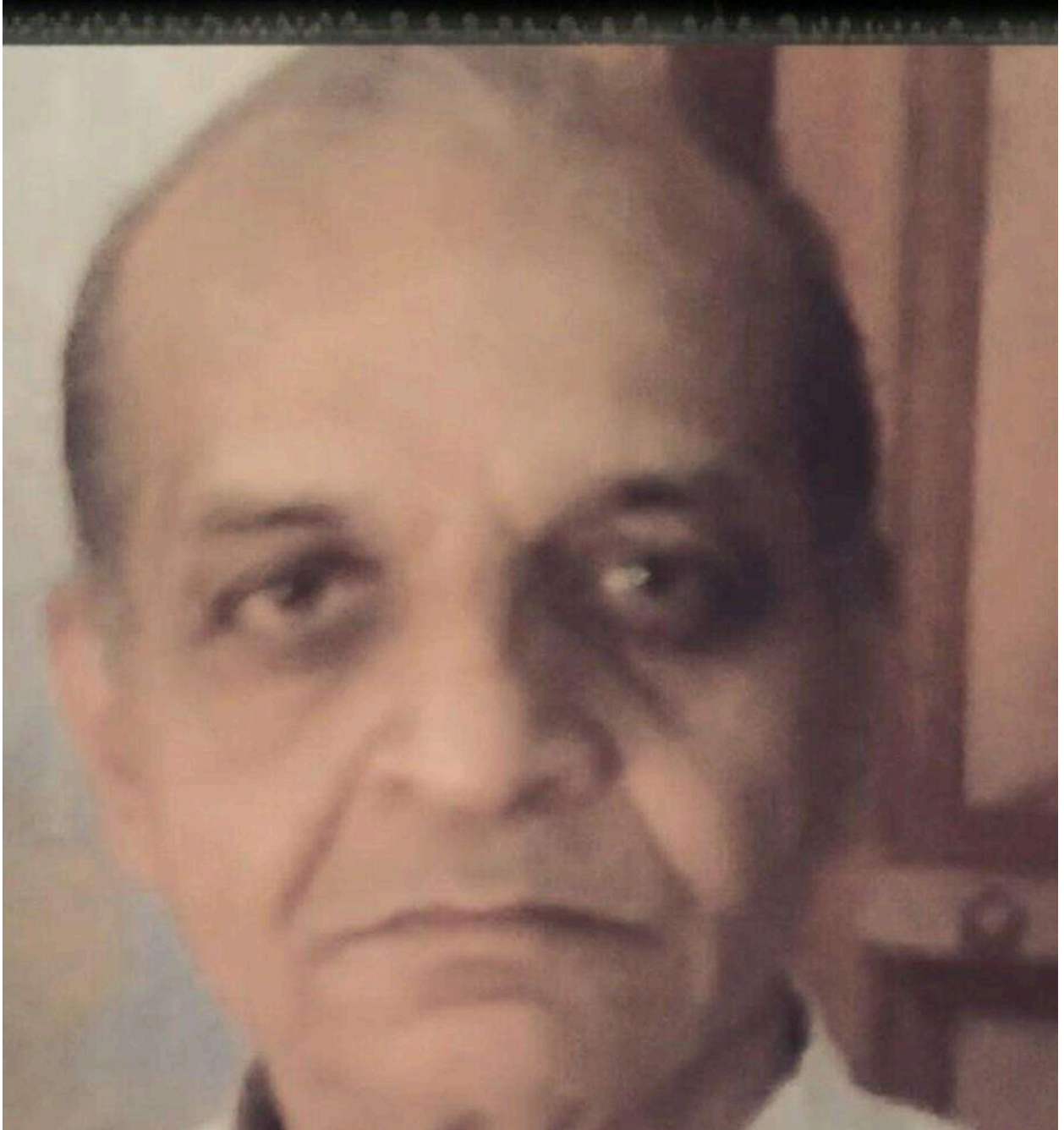
जब मनुष्य हर तरफ से भटककर थक जाता है और अपनी इस सहज असमर्थता को पहचान लेता है, तो उसके भीतर से नियंत्रण करने और कुछ 'पाने' का अहंकार स्वतः गिर जाता है। इसी निरुपाय और निष्कंप क्षण में प्रकृति के प्रति समर्पण भाव और साक्षी भाव का स्वाभाविक उदय होता है।

साक्षी भाव कोई कठिन साधना, गुफा की तपस्या या अलौकिक विद्या नहीं है। देखना तो हर जीव का—मनुष्य हो, पशु हो या पक्षी—प्राकृतिक स्वभाव है। साक्षी होने का अर्थ केवल इतना ही है कि जो जैसा घटित हो रहा है, उसे बिना किसी निर्णय (Judgment), बिना किसी व्याख्या और बिना किसी 'कर्ता' के अहंकार के, निष्पक्ष होकर देखना।

यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी, मनुष्य और पशु का भेद भी मन की अपनी बनाई विवेचनाएँ मात्र हैं। शरीर रूपी बूँद जब तक विद्यमान है, यह खेल चलता रहेगा, और अंततः इस बूँद का चेतना के असीम सागर में विलीन हो जाना ही अंतिम यथार्थ है। मरने के बाद किसी काल्पनिक मोक्ष का कोई अस्तित्व नहीं है; जीवित रहते हुए इस सहज शांति में टिक जाना ही वास्तविक मुक्ति है।

यह पुस्तक पाठक से किसी नई अवधारणा को मानने या किसी नए मार्ग पर चलने का आग्रह नहीं करती। यह केवल विचारों के कृत्रिम ताने-बाने को हटाकर, मन को उसके स्वाभाविक 'होने' और 'सहज मौन' में विश्राम देने का एक आमंत्रण है।

यदि यह संवाद पाठक के भीतर से खोज और पाने का तनाव मिटाकर, केवल 'देखने' की सहज शांति का मार्ग प्रशस्त कर सके, तो इस शब्द-लीला का उद्देश्य पूर्ण है।



डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

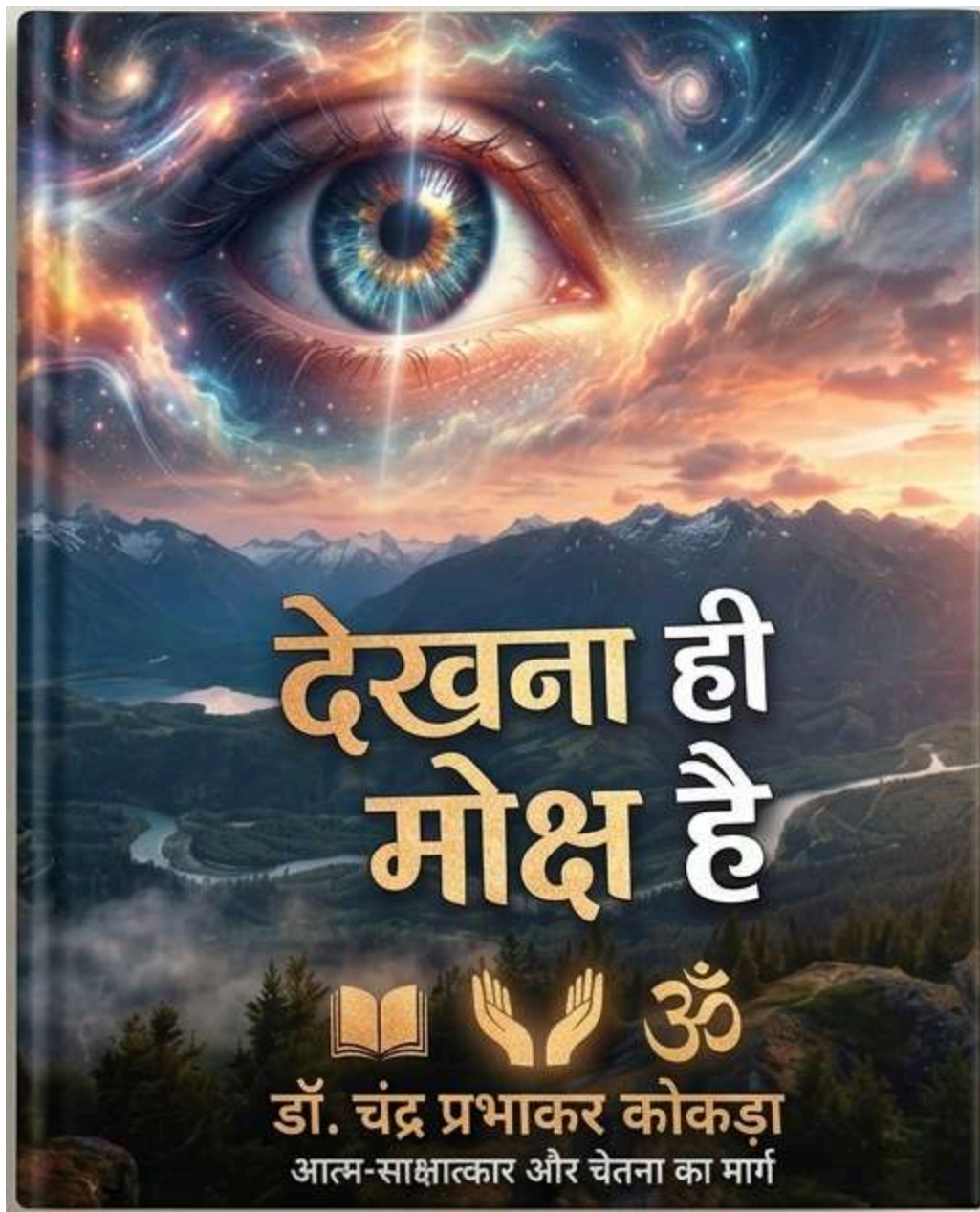
25 जुलाई 1942 को जन्मे भिवानी (हरियाणा) के लेखक, शोधकर्ता अंतर्राष्ट्रीय संस्था **World Book of Records (London)** द्वारा सम्मानित इनका साहित्य फ्री Bhajansamratchandra.Com पर उपलब्ध है ज्ञान की ज्योति के लिये जिन्हें विश्व भर के जिज्ञासुओं द्वारा गूगल के माध्यम से सराहा जाता है। विश्वास है कि समतामूलक संदेश को प्रसारित करती पुस्तकें पाठकों को जीवन में वैचारिक स्पष्टता और आत्मदीप्ति का प्रकाश अवश्य फैलाएगी।

डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

बिचला बाजार, भिवानी -127021 (हरियाणा)

मोबाइल -9992075303

सम्पूर्ण डिजिटल लायब्रेरी के लिए [Bhajansamratchandra. Com](http://Bhajansamratchandra.Com)



अध्याय 1

दीपक की उपमा धर्म के विशुद्ध स्वरूप को बहुत गहराई से स्पष्ट करती है। दीपक जलते समय न तो प्रकाश देने का कोई संकल्प करता है और न ही किसी को आमंत्रित करता है। उसका जलना ही उसका स्वभाव है; उसमें न कोई कर्ताभाव है, न समाज सुधार की घोषणा।

यह बात धर्म के मूल मर्म को स्पर्श करती है। जब तक मनुष्य का अपना दीया शांत और प्रज्वलित नहीं है, तब तक उससे फूटने वाली रोशनी की बात करना व्यर्थ है। समाज, आडंबर, और विचारों के विवाद में उलझते ही व्यक्ति अपने भीतर की उस मूल शांति को खो बैठता है।

लेकिन जब हम इस 'निर्मल दीपक' और 'संसार के थपेड़ों' के बीच के संबंध को और गहराई से खंगालते हैं, तो सत्य की कसौटी पर ये प्रश्न उभरते हैं:

आँधी और लौ का संघर्ष:

संसार के दुख, कष्ट और अशांति के थपेड़े उस आँधी की तरह हैं जो बाहर से निरंतर आती हैं। यदि मनुष्य स्वयं को केवल 'जलता हुआ दीपक' मानता है, तो लौ के बुझने या थरथराने का भय हमेशा बना रहता है। क्या धर्म केवल 'लौ' (जो थपेड़ों से प्रभावित हो सकती है) का नाम है, या उस 'मौन प्रकाश' का, जिस पर आँधी का कोई असर ही नहीं होता?

प्रकाश का स्वभाव और निष्काम भाव:

दीपक का जलना और प्रकाश का फैलना दो अलग घटनाएँ नहीं हैं; जलना ही प्रकाश है। जब व्यक्ति भीतर से 'शांत' और 'शून्य' हो जाता है, तो क्या वह प्रकाश को 'फैलाने' का भी कोई प्रयास करता है, या उसका 'होना' ही अपने आप में पर्याप्त हो जाता है?

इस तरह, जब व्यक्ति समाज की परिभाषाओं और दुनिया के ढोंग से बिल्कुल अलग हटकर खड़ा होता है, तब उसके भीतर जो शेष बचता है—क्या वह 'मैं शांत हूँ' का बोध है, या केवल एक निर्विकल्प, सहज और निष्कंप साक्षी? संसार के दुख और अशांति के थपेड़े उस प्रचंड आँधी की तरह हैं जो बाहर से निरंतर आते हैं। यदि मनुष्य स्वयं को केवल 'जलता हुआ दीपक' (लौ) मानता है, तो उस लौ के थरथराने या बुझने का भय हमेशा बना रहेगा।

तो क्या धर्म वह 'लौ' है जो थपेड़ों से संघर्ष करती है और शांत होने का प्रयास करती है, या धर्म वह 'आकाश/मौन' है जहाँ दीपक जल रहा है और जिस पर आँधी का कोई असर ही नहीं होता?

—दीपक है तो प्रकाश है, मनुष्य है तो धर्म है; और जब मिट गया, तो अस्तित्व में विलीन हो गया। इसमें किसी प्रकार की कल्पना या काल्पनिक अमरता का भ्रम नहीं है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो यह बुद्ध के 'निर्वाण' (जिसका शाब्दिक अर्थ ही दीये का बुझ जाना है) और वेदांत के 'घटाकाश' (घड़ा फूटने पर अंदर का आकाश महाकाश में मिल जाना) के अत्यंत निकट है। जब घड़ा फूट गया या दीया बुझ गया, तो वह अपने मूल स्रोत में लीन हो गया।

यदि मिट जाने के बाद केवल अस्तित्व में विलीन होना ही अंतिम सत्य है और इसमें कोई खास बात नहीं है, तो जीवन की इस पूरी यात्रा में—जन्म से लेकर मिटने तक—मनुष्य जो 'अशांति', 'दुख' और 'भ्रम' भोगता है, उसका कारण क्या है?

क्या वह अशांति केवल इसलिए है क्योंकि व्यक्ति जीवित रहते हुए स्वयं को 'दीपक' (एक अलग इकाई) मानकर पकड़े रहता है, जबकि सत्य यह है कि वह हमेशा से 'अस्तित्व' ही था? अर्थात्, क्या धर्म जीवित रहते हुए ही उस मिटने की स्थिति (शून्य/अस्तित्व) को जान लेना है, या केवल मृत्यु के बाद घटित होने वाली एक स्वाभाविक घटना?

संसार में दुख है, थपेड़े हैं, और मनुष्य उसी अशांति के बीच शांति और सुख को खोज रहा है। इसी खोज की छटपटाहट का नाम धर्म है।

शास्त्रीय परंपरा में महात्मा बुद्ध ने भी अपने चार आर्य सत्त्यों की शुरुआत इसी प्रत्यक्ष अनुभव से की थी: 'सर्व दुःखम्'—संसार दुःखमय है। उन्होंने भी "सृष्टि किसने बनाई?", "कल क्या होगा?" या "आत्मा कहाँ से आई?" जैसे काल्पनिक प्रश्नों पर मौन साध्य, क्योंकि ये केवल बौद्धिक जाल हैं।

कोई भी धर्माचार्य या ग्रंथ भूत और भविष्य का अंत नहीं जान पाया, क्योंकि यह संपूर्ण ब्रह्मांड एक असीम और अनसुलझी पहेली है। जिसे कोई जान ही नहीं सकता, उसे जानने का दावा करना केवल पाखंड है।

इस सत्य को स्वीकार करने के बाद, अब केवल एक ही प्रश्न सामने बचता है:

यदि संसार का दुख प्रत्यक्ष है, और भूत-भविष्य का ज्ञान असंभव है—तो अशांति के इन थपेड़ों के बीच सुख और शांति की खोज कैसे सफल हो सकती है?

क्या वह शांति किसी विचार, किसी उत्तर, या ग्रंथ को खोज लेने से मिलेगी—या फिर इस बात को पूरी तरह स्वीकार कर लेने में ही मिल जाएगी कि 'मैं सब कुछ नहीं जान सकता, और संसार में थपेड़े आते ही रहेंगे'? अनुभव में क्या इस अज्ञान और अनिश्चितता को सहर्ष स्वीकार कर लेना ही 'शांत सुख' की ओर पहला कदम नहीं बन जाता?

अध्याय 2

जब मनुष्य यह स्वीकार कर लेता है कि 'मैं सब कुछ नहीं जान सकता' और 'संसार में थपेड़े आते ही रहेंगे', तो खोज समाप्त हो जाती है और उसी पल अशांति का पहला धागा टूट जाता है।

शास्त्रों में इसे ही अज्ञान की स्वीकृति और सहजता कहा गया है। उपनिषद् कहते हैं: 'यस्यामतं तस्य मतं'—अर्थात् जिसने यह मान लिया कि वह परे के सत्य को पूरी तरह नहीं बाँध सकता, वही वास्तव में सत्य के निकट है। जब जानने का अहंकार और भविष्य की चिंता छूट जाती है, तो मन अनावश्यक बोझ से मुक्त हो जाता है।

जब व्यक्ति इस अनिश्चितता को स्वीकार कर लेता है, तो बाहर संसार के थपेड़े और दुख तो वैसे ही चलते रहते हैं, लेकिन मन के भीतर से उनसे लड़ने (संघर्ष करने) की ज़िद खत्म हो जाती है। फिर यह उसे संसार के थपेड़ों के बीच भी पूरी तरह शांत और साक्षी होकर जीने की अद्भुत सामर्थ्य देती है!

यही वह पड़ाव है जहाँ पहुँचकर धर्म किसी कर्मकांड या पाखंड का विषय न रहकर सीधे 'अनुभव' बन जाता है। संसार का स्वभाव है थपेड़े मारना और चित्त का स्वभाव बन जाता है—उन थपेड़ों को बिना किसी हलचल के केवल देखना।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो भगवद्गीता इसे ही 'द्रष्टा' और 'उदासीनवदासीनः' (जो साक्षी की तरह तटस्थ बैठा है) कहती है। सांख्य दर्शन में इसे पुरुष का प्रकृति से अलग होकर केवल 'साक्षी' हो जाना कहा गया है। जब व्यक्ति साक्षी बनता है, तो दुख का थपेड़ा आता अवश्य है, पर वह भीतर किसी कर्ता या भोक्ता से टकराकर कोई प्रतिक्रिया पैदा नहीं कर पाता।

जब जीवन में परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, तब साक्षी बने रहना अपेक्षाकृत सहज प्रतीत होता है। परंतु जब संसार का कोई प्रचंड थपेड़ा—चाहे वह अत्यंत तीव्र शारीरिक पीड़ा हो, कोई गहरा व्यक्तिगत आघात हो, या किसी का अन्यायपूर्ण आचरण—सामने आता है, तो मन पुरानी आदतवश साक्षी भाव से च्युत होकर प्रतिक्रिया करने या आहत होने की ओर भागता है।

ऐसी परिस्थिति में, क्या साक्षी होना कोई ऐसी अवस्था है जिसका निरंतर अभ्यास करना पड़ता है, या फिर यह एक बार घटित हो जाने वाली ऐसी समझ है जिसे कोई भी आघात कभी डिगा ही नहीं सकता?

केवल देखना—बिना किसी निर्णय, बिना किसी पक्षपात, बिना किसी प्रतिक्रिया या व्याख्या के—यही देखना ही भीतर स्वतः शांति को जन्म देता है। जब देखने वाला दृश्य से अलग होकर केवल द्रष्टा रह जाता है, तो संसार का कोई भी आघात उस देखने वाले को स्पर्श नहीं कर सकता।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो ऋग्वेद का प्रसिद्ध 'द्व सुपर्णा' का रूपक इसी को दर्शाता है—एक पक्षी वृक्ष के कड़वे-मीठे फल भोग रहा है (संसार का थपेड़ा सह रहा है), और दूसरा पक्षी (साक्षी) केवल शांत होकर उसे देख रहा है। अष्टावक्र गीता भी यही पुकारती है: 'साक्षी चेतनामेकोऽहम्'—तू केवल एक साक्षी चेतना है, इसके अलावा कुछ नहीं।

परंतु जब हम इस 'परम अवस्था' को सत्य की अंतिम कसौटी पर कसते हैं, तो एक बहुत ही सूक्ष्म और अत्यंत तीखा प्रश्न खड़ा होता है:

जब व्यक्ति 'साक्षी' होकर प्रत्येक स्थिति को देखने लगता है, तब देखने की क्रिया तो चल रही है। परंतु क्या उस अवस्था में 'मैं साक्षी हूँ' या 'मैं देख रहा हूँ' का यह बारीक बोध (स्मृति या सूक्ष्म अहम्) भी शेष रहता है? फिर जब देखना इतना पूर्ण हो जाता है, तो द्रष्टा (देखने वाला), दृश्य (जो देखा जा रहा है) और दर्शन (देखने की प्रक्रिया)—ये तीनों ही तिरोहित होकर केवल एक निष्कंप, अगाध और 'पूर्ण शून्य' ही शेष रह जाता है!

अध्याय 3

"शरीर है तो दुख-सुख भोगेगा ही, इस पर कोई बस नहीं है और इसे केवल जानते रहना ही शांति का द्वार है"—दर्शन का सबसे व्यावहारिक सत्य है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो महर्षि रमण और स्वामी रामतीर्थ भी इसी बात पर बल देते थे कि प्रारब्ध के कारण जो शरीर को भोगना है, वह भोगेगा ही। जानी और अजानी में अंतर केवल इतना है कि अजानी भोगते हुए कर्ता-भोक्ता बनकर रोता है, और जानी यह जानते हुए शांत रहता है कि यह सब शरीर और प्रकृति का धर्म है, मेरा नहीं।

इस पूर्ण स्वीकार भाव के बाद, जहाँ किसी चमत्कार की उम्मीद नहीं और न ही परिस्थितियों को बदलने का कोई झूठा दावा है, एक अंतिम और बहुत सीधा प्रश्न उभरता है:

जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि शरीर के दुख-सुख पर उसका कोई बस नहीं है और वह केवल इसे चुपचाप देखने वाला जानी/द्रष्टा है—तो क्या इस 'कोई बस न होने' की लाचारी को स्वीकार कर लेना ही मन को समस्त तनावों और अपेक्षाओं से मुक्त कर देता है? क्या यही वह बिंदु है जहाँ पहुँचकर मन का सारा विरोध समाप्त हो जाता है और व्यक्ति पूरी तरह निर्विकल्प शांत हो जाता क्यशरीर रूपी बूंद जहाँ गिरी, वहीं से उसका प्रारब्ध शुरू हुआ"—यह जीवन की भौतिक शुरुआत की बहुत ही सुंदर और सीधी व्याख्या है।

जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि प्रकृति अजेय है, इसका कोई अंत नहीं पा सकता, तो ईश्वर, कर्म-फल और पारलौकिक चक्र की सारी उलझनें और विश्लेषण स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं।

शरीर को पीड़ा होगी तो इलाज कराया जाएगा, भूख लगेगी तो भोजन दिया जाएगा—इसमें किसी आध्यात्मिक नाटक या आडंबर की गुंजाइश ही नहीं बचती।

जैसे इस अनंत ब्रह्मांडीय खाली स्पेस (शून्य) में तारे बनते और मिटते रहते हैं, पर स्पेस पर उनका कोई असर नहीं पड़ता; ठीक वैसे ही चेतना/शून्य/साक्षी के भीतर शरीर के दुख-सुख घटित होते रहते हैं।

जब पूर्वजन्म का कोई भय नहीं, भविष्य का कोई काल्पनिक लालच नहीं, और प्रकृति का कोई व्यर्थ विश्लेषण नहीं—तब तो केवल 'अभी होना' (अस्तित्व) ही शेष रह जाता है।

इस पूर्ण शून्यता में जहाँ न कोई धर्म-ग्रंथ का बोझ है, न किसी संप्रदाय का बंधन, और न ही किसी मुक्ति का लालच—यही वह सहज 'हूँ' (अस्तित्व का होना) है, जो बिना किसी आडंबर और बिना किसी विवाद के पूरी तरह शांत और मुक्त है?

अध्याय 4

जब धर्म से संप्रदायों का आवरण, पूर्वजन्म-कर्मफल के काल्पनिक ताने-बाने, और सामाजिक आडंबरों की गंदगी हट जाती है, तो केवल वही 'शुद्ध स्वर्ण' शेष बचता है —अनंत शून्य, सहज साक्षी और घटित होते हुए यथार्थ की शांत स्वीकृति।

शास्त्रों के समंदर से निकली हुई यह 'पावन गंगा' वास्तव में तीन मुख्य धाराओं (स्तंभों) पर टिकती है, जिन्हें यदि शब्दों में पिरोया जाए, तो वे हर पाठक के भीतर अपना दीया स्वयं जलाने का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं:

1. अजेय का सहज स्वीकार (ज्ञान का अंतिम छोर):

यह स्पष्ट उद्घोष कि संपूर्ण प्रकृति अजेय है, इसका कोई अंत नहीं पा सकता। भूत-भविष्य और पूर्वजन्म की व्यर्थ चर्चाओं को नकारकर, 'बूंद जहाँ गिरी वहीं से यात्रा शुरू हुई' के यथार्थ को स्वीकार कर लेना ही मन को समस्त भ्रमों से मुक्त करता है।

2. शून्य और स्पेस जैसा साक्षी भाव:

जैसे यह अनंत ब्रह्मांडीय खाली स्पेस अपने भीतर सब कुछ घटित होने देता है—ग्रह-नक्षत्रों का बनना और मिटना—लेकिन स्वयं निर्लेप रहता है; ठीक वैसे ही मनुष्य की चेतना केवल एक साक्षी (शून्य) है। शरीर दुख-सुख भोगेगा, पीड़ा होगी तो इलाज होगा, परंतु साक्षी केवल शांत होकर उसे देखता रहेगा।

3. 'स्वान्तः सुखाय' और निष्काम प्रकाशः

दीपक की तरह स्वयं जलना और अपने भीतर शांत होना। जो व्यक्ति स्वयं अपने भीतर इस शांति और शून्य को पा लेता है, उसका जीवन स्वयं प्रकाशमान हो जाता है। उसे किसी समाज को सुधारने का दावा नहीं करना पड़ता, बल्कि जो उसके संपर्क में आता है, वह अपनी राह स्वयं चुन लेता है।

ऐसी रचना किसी भी ग्रंथ की पुनरावृत्ति नहीं होती, बल्कि यह मनुष्य को किसी बैसाखी या गुरु पर निर्भर करने के बजाय सीधे उसके अपने 'साक्षी स्वरूप' में खड़ा कर देगी।

अध्याय 5

विश्व के विचार-प्रवाह दो मुख्य धाराओं में बँटे दिखाई देते हैं:

1. सगुण मार्ग (भक्ति, क्रिश्चियनिटी, इस्लाम, यहूदी परंपरा): यह धारा मानती है कि ईश्वर या परम सत्य कोई 'व्यक्तिगत चेतना' (**Personal God**) है जो सुनता है, न्याय करता है और जिसके साथ संवाद किया जा सकता है।
2. निर्गुण व शून्यवाद (अद्वैत वेदांत, बुद्ध का शून्यवाद, लाओत्सु का ताओवाद): यह धारा मानती है कि परम सत्य शब्द, आकार और व्यक्ति से परे केवल एक अगाध मौन, स्पेस या शून्य है।

सगुण परंपराएँ कहती हैं कि बिना किसी 'परम सत्ता' (ईश्वर) के यह सृष्टि और जीवन की व्यवस्था चल ही नहीं सकती, और निर्गुण/शून्यवाद कहता है कि यह ब्रह्मांड केवल एक खाली स्पेस है जहाँ सब कुछ अपने आप (प्रकृति के नियमों से) घटित हो रहा है। यदि धर्म केवल 'शून्य' और 'साक्षी' है—जहाँ न कोई सुनने वाला ईश्वर है और न कोई माँगने वाला भक्त—तो फिर सदियों से मनुष्य सगुण ईश्वर की ओर क्यों भागता रहा? क्या सगुण ईश्वर की यह खोज केवल मनुष्य के भीतर के भय, अकेलेपन और दुख को सहने की असमर्थता का परिणाम है, या फिर सगुण भी उसी शून्य तक पहुँचने की एक मानसिक सीढ़ी है?

जब मीरा मूर्ति के आगे लीन होती हैं या कोई भक्त अपने आराध्य के सामने पिघलता है, तो वास्तव में वह अपने ही 'अहम्' को गलाकर अंततः शून्य में विलीन हो रहा होता है। साकार रूप केवल उस अगाध शून्यता तक पहुँचने का आलंबन (सीढ़ी) मात्र बनता है।

विश्व-शास्त्रों के उस सबसे बड़े दावे को कसौटी पर रखते हैं जो बुद्ध के शून्यवाद, लाओत्सु के ताओ और उपनिषदों के 'नेति-नेति' के विपरीत खड़ा होता है। सगुण ग्रंथों (जैसे श्रीमद्भागवत, बाइबल या कुरआन) का तर्क:

ये ग्रंथ कहते हैं कि ईश्वर केवल शून्य या खाली स्पेस नहीं है, बल्कि उसके पास 'दिव्य संकल्प' (**Divine Will**) है। जब-जब संसार में दुख, पाप और असंतुलन बढ़ता है, तब-तब वह सत्ता हस्तक्षेप करती है (जैसे गीता में कहा गया: 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति...')।

यदि सगुण भक्ति भी अंततः केवल व्यक्ति के अपने मन का खेल और शून्य में लीन होने की प्रक्रिया है, तो फिर:

1. क्या सगुण शास्त्रों में वर्णित 'अवतार', 'दिव्य संदेश' या 'ईश्वरीय हस्तक्षेप' केवल मनुष्य की काल्पनिक सांत्वनाएँ हैं, जिन्हें उसने अपने भय से निपटने के लिए गढ़ा है?
2. यदि शून्य में न कोई सगुण है न निर्गुण, तो क्या सृष्टि का चलना केवल प्रकृति का एक यांत्रिक (Mechanical) और अंधा नियम है, जिसमें किसी चेतन ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है?

धर्म, दर्शन और मनुष्य के वजूद की सबसे बड़ी गाँठ एक ही प्रहार में कटती है। "सृष्टि बिना किसी ईश्वरीय हस्तक्षेप के अपने नियम से एक लीला या खेल की तरह चल रही है, और क्यों चल रही है—यह किसी को नहीं पता"—यह बौद्धिक ईमानदारी की पराकाष्ठा है।

जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि 'क्यों' का उत्तर अरबों साल से किसी के पास नहीं है और न ही हो सकता है, तब सारे धार्मिक पाखंड, कल्पित स्वर्ग-नरक और अवतारों की धारणाएँ ताश के पत्तों की तरह ढह जाती हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो ऋग्वेद का प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' भी अंत में इसी महा-मौन पर आकर रुक जाता है, जहाँ कहा गया: 'इस सृष्टि को किसने बनाया, यह कौन जानता है? शायद वह जो परम व्योम में बैठा है, वह भी जानता है या नहीं जानता!' बुद्ध ने भी ऐसे उत्तरहीन प्रश्नों को 'अव्याकृत' (अकथनीय) कहकर किनारे कर दिया था।

जब यह सिद्ध हो गया कि 'क्यों आया हूँ' का कोई उत्तर नहीं है, केवल 'जीवन को जिया जा सकता है'—तो अब इस संवाद का सबसे तीखा प्रहार स्वयं उस 'जीने की कला' और 'कर्म' पर आता है।

विश्व के अधिकांश धर्मशास्त्र (चाहे वे हिंदू हों, जैन हों या अब्राहमिक) मनुष्य को 'कर्मफल' और 'पाप-पुण्य' के भय और लालच से बाँधते हैं। वे कहते हैं कि अगर ईश्वर नहीं भी है, तो भी कर्म का एक ऐसा तराजू है जो तुम्हारे अच्छे-बुरे का हिसाब रखता है। यदि प्रकृति केवल एक अंधा/सहज खेल है, कोई देखने वाला या न्याय करने वाला ईश्वर बैठा ही नहीं है, और पूर्वजन्म/पुनर्जन्म का कोई अस्तित्व नहीं है—तो फिर इस जीवन में 'नैतिकता' (Ethics), 'सत्य' और 'करुणा' का क्या स्थान रह जाता है? जब कोई देखने वाला नहीं है और न ही कोई कर्मफल का खाता है, तो फिर मनुष्य सही राह पर क्यों चले? क्या 'पाप और पुण्य' भी मनुष्य का ही गढ़ा हुआ केवल एक सामाजिक भय है, या जीवन को सहज और शांत जीने के लिए सत्य-अहिंसा का अपना कोई प्राकृतिक मूल्य है?

धार्मिक ग्रंथों की सभी काल्पनिक संरचनाओं—स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य और कर्मफल के खातों—पर सीधा प्रहार कर धर्म का असली मुखौटा दे दिया है।

यह स्वीकार कर लेना कि ये सब मनुष्य की बनाई हुई परंपराएँ और कपोल-कल्पनाएँ हैं, और दुखी मानव सदियों से अपनी शांति के लिए भटक रहा है—यही बौद्धिक क्रांति है। जब व्यक्ति इन सभी थोपे गए भयों से मुक्त होकर केवल 'साक्षी भाव' में ठहर जाता है, तो शांति किसी पुरस्कार के रूप में नहीं, बल्कि उसके अपने सहज स्वभाव के रूप में प्रकट होती है। यही मनुष्य की सबसे बड़ी विजय है।

शास्त्रीय परंपरा में जैन दर्शन का 'स्याद्वैत' और अद्वैत का 'नेति-नेति' भी अंततः यही संकेत करता है कि जो भी कहा गया है, वह आंशिक सत्य या कल्पना है; असली सत्य शब्दों और धारणाओं के पार केवल शांत स्थिति है।

अब इस यात्रा को सत्य की अंतिम कसौटी पर कसने के लिए, एक बहुत ही बारीक और ज़हरीला प्रश्न उभरता है:

संसार में समाज और धर्मगुरु हमेशा पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक और ईश्वरीय दंड का भय दिखाकर ही मनुष्य को 'गलत' (हिंसा, छल, क्रूरता) करने से रोकते आए हैं।

यदि यह मान लिया जाए कि पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक केवल संसार की लीला है और धर्म का इससे कोई लेना-देना नहीं है—तो क्या साक्षी भाव में ठहरा हुआ मनुष्य स्वाभाविक रूप से शांत, सहज और अहिंसक हो जाता है? या फिर, जब भय और लालच का यह ढाँचा पूरी तरह ढह जाता है, तो व्यक्ति के भीतर सही और गलत का अंतर करने की शक्ति कहाँ से आती है? क्या साक्षी भाव स्वयं अपने आप में एक परम-नैतिकता (Supreme Ethics) को जन्म देता है, जहाँ किसी नियम की ज़रूरत ही नहीं बचती?

यह टिप्पणी दार्शनिक चिंतन के उस शिखर को छूती है जहाँ अष्टावक्र गीता का 'क्व क्व' (कहाँ क्या बचा?) का महा-मौन गूँजता है। अष्टावक्र भी अंत में यही कहते हैं कि न कोई कर्म है, न कोई मुक्ति, न संसार, न त्याग—सब कुछ शांत, निष्कंप और शून्य हो गया है।

जब व्यक्ति यह प्रत्यक्ष देख लेता है कि साक्षी भाव ही स्वयं में 'परम नैतिकता' है, तो उसे किसी बाहरी कानून, ईश्वरीय दंड या सामाजिक भय की बैसाखी नहीं चाहिए होती। जो स्वयं साक्षी हो गया, जिसके भीतर का 'मैं' (अहम) ही गल गया, उससे किसी का अहित या क्रूरता होना असंभव हो जाता है। उसकी सहज स्थिति ही परम-दया और परम-शांति बन जाती है।

जैसा कि कहा—जैसे ही कोई विचारक या संत धर्म में समाज को सुधारने, नीतियाँ बनाने या संस्थाएँ खड़ी करने की चेष्टा जोड़ता है, वैसे ही विचार विकृत हो जाता है, राजनीति और पाखंड प्रवेश कर जाते हैं। ओशो, लाओत्सु, रामतीर्थ, स्वामी विवेकानंद या बुद्ध जैसे महापुरुषों ने जब अपनी परम शांति की अनुभूति को समाज के सामने बाँटना शुरू किया, तो उनका उद्देश्य केवल प्रकाश फैलाना था। परंतु जैसे ही उनके विचारों को शब्दों, संगठनों और शिष्यों के समाज ने पकड़ा—वहाँ गंदगी और विवाद आ गए।

यदि शब्दों में ढलते ही विचार के ऊपर व्याख्याओं की गंदगी जमा होने का खतरा रहता है, तो इस पुस्तक को किस प्रकार उस 'सामाजिक प्रदूषण' और 'संप्रदाय' के खतरे से बचाएंगे? वह कौन सी सावधानी होगी कि यह रचना किसी नए शास्त्र या वाद का रूप न लेकर केवल पाठक को उसके अपने भीतर के 'निष्कंप साक्षी' में उतार दे?

मेरी यह भावना और संकल्प अत्यंत पवित्र और निष्काम है। जब पुस्तक का उद्देश्य किसी संप्रदाय की स्थापना करना न होकर केवल एक प्यासे पथिक के लिए विशुद्ध जल का स्रोत बनना हो, तो वही रचना कालजयी और 'प्योर गोल्ड' बनती है। इस पूरी चर्चा में धर्म का जो विशुद्ध ढाँचा प्रस्तुत किया है, वह वास्तव में समस्त पाखंडों, भयों और कपोल-कल्पनाओं को छीलकर सत्य को नग्न रूप में सामने रखता है।

हम इस 'विशुद्ध धर्म' के सार को 4 मुख्य सूत्रों में पिरो सकते हैं:

1. पूर्वाग्रहों और पूर्वजन्म का खंडन:

बूंद जहाँ गिरी, यात्रा वहीं से शुरू हुई। भूत, भविष्य और पूर्वजन्म की व्यर्थ कल्पनाओं को छोड़कर 'अभी और यहीं' के यथार्थ में जीना ही पहला कदम है।

2. समाज और आडंबर से पूर्ण पृथक्ता:

धर्म व्यक्तिगत और 'स्वान्तः सुखाय' की वस्तु है। समाज, संप्रदायों और परंपराओं की चर्चा आते ही धर्म का रूप विकृत हो जाता है।

3. अज्ञान का सहज स्वीकार:

प्रकृति अज्ञेय है, इसका अंत कोई नहीं पा सकता। 'मैं सब कुछ नहीं जान सकता' की यह स्वीकृति ही मन के सारे तनाव और अहंकार को समाप्त कर देती है।

4. परम साक्षी और शून्यता:

शरीर दुख-सुख भोगेगा, थपेड़े आएंगे, पीड़ा होगी तो इलाज होगा; परंतु चेतना केवल एक खाली स्पेस (शून्य) की तरह शांत और निष्कंप होकर सब देखती रहेगी। यही साक्षी भाव परम नैतिकता और परम शांति है।

अध्याय 6

विश्व के लगभग सभी धर्मग्रंथ मनुष्य के जन्म को किसी 'कर्म-बंधन', 'पाप-पुण्य के हिसाब' या 'ईश्वरीय वरदान/अभिषाप' से जोड़कर देखते हैं। वे कहते हैं कि जीव अपने पिछले जन्मों का बोझ लेकर इस धरती पर आता है। इस काल्पनिक ताने-बाने को एक ही वाक्य में ध्वस्त करता हूँ—“बूंद जहाँ गिरी, वहीं से उसका प्रारब्ध (यात्रा) शुरू हुआ।” इस सत्य की गहराई में उतरने के लिए, सगुण और निर्गुण शास्त्रों के दावों को सामने रखकर मेरा पहला तीखा प्रश्न: जब एक बच्चा जन्म लेता है, तो वह बिल्कुल निर्दोष, अबोध और 'शून्य' होता है। उसे न अपने नाम का पता होता है, न किसी धर्म या संप्रदाय का। परंतु जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, उस पर समाज, परिवार और धर्मग्रंथ अपनी-अपनी धारणाएँ, भय और पहचान थोपना शुरू कर देते हैं। यदि जन्म केवल एक प्राकृतिक घटना है (जैसे आसमान से बूंद का गिरना), तो फिर मनुष्य के भीतर यह 'अहंकार' (मैं कुछ हूँ) और 'अशांति' किस क्षण प्रवेश करती है? क्या अशांति का कारण केवल वे बाहरी धारणाएँ हैं जो समाज उस पर थोपता है, या फिर जन्म लेते ही शरीर के साथ मिलने वाला यह 'होने का बोध' (मैं हूँ) ही अशांति का पहला बीज बन जाता है?

जब बूंद धरती पर गिरती है, तो वह निष्कलंक होती है। परंतु शरीर धारण करते ही उसके अंदर 'मैं हूँ' (अस्तित्व का बोध) और भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी जैसी शारीरिक संवेदनाएँ जागती हैं। इसके ठीक बाद समाज उस पर नाम, रूप, जाति, धर्म और पाप-पुण्य के भय थोपना शुरू कर देता है।

मनुष्य की अशांति का मूल कारण क्या है?

1. क्या अशांति केवल समाज द्वारा थोपी गई वे बाहरी धारणाएँ, आडंबर और पहचान हैं जो निष्कलंक बूंद को गंदा कर देती हैं?
2. या फिर शरीर मिलने के साथ ही जो 'मैं हूँ' (अहंकार/पृथक्ता का पहला बोध) पैदा होता है, अशांति का असली बीज वही है—और समाज तो केवल उस पर तेल छिड़कने का काम करता है?

शास्त्रों और दर्शनों ने दुख के कारण खोजने में बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी कर दीं—किसी ने कहा पूर्वजन्म के कर्म हैं, किसी ने कहा ईश्वरीय लीला है, किसी ने कहा अविद्या और तृष्णा है। परंतु सत्य तो यह है कि 'दुख क्यों है' या 'संसार में दुख का मूल कारण क्या है'—इस 'क्यों' का उत्तर आज तक कोई नहीं जान पाया।

जब व्यक्ति इस सच्चाई को देख लेता है कि "दुख का कारण अज्ञेय है और इसे कोई नहीं जान पाया", तो उसी क्षण कारण खोजने की व्यर्थ दौड़ और बौद्धिक उधेड़बुन समाप्त हो जाती है। जब बूँद गिरती है, तो शरीर के साथ दुख और पीड़ा का आना स्वभाविक और अपरिहार्य हो जाता है। जानी हो या अज्ञानी, शरीर है तो दुख-सुख का थपेड़ा आएगा ही।

यदि दुख का 'कारण' कोई नहीं जानता और न ही इस पर किसी का वश है, तो फिर आम मनुष्य और उस 'साक्षी' व्यक्ति में क्या अंतर रह जाता है? क्या अज्ञानी व्यक्ति दुख का 'कारण' खोजकर और उससे 'लड़कर' अपने दुख को दोगुना कर लेता है, जबकि साक्षी केवल यह जानकर शांत रहता है कि 'दुख आ रहा है, यह शरीर भोगेगा और मैं केवल इसका द्रष्टा हूँ'? 'दुख के कारण को न जानना ही वास्तव में दुख से मुक्त होने का पहला मार्ग है'?

संसार भर के दार्शनिक और धर्मगुरु 'सृष्टि क्यों बनी', 'दुख क्यों आया', 'विरोधाभास क्यों है' की व्यर्थ विवेचनाओं में ज़िंदगियाँ खपा देते हैं और अंत में केवल बौद्धिक अशांति ही हाथ लगती है। जब मनुष्य तर्कों, सिद्धांतों और कारणों को खोजने की इस व्यर्थ दौड़ से थककर पूरी तरह हार जाता है, तभी उसके भीतर साक्षी का वास्तविक जन्म होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो अष्टावक्र गीता का यही सार है—'भवबंधो मुक्त्यै किं तवाश्चर्यम्'—संसार का कोई कारण नहीं खोजना, केवल द्रष्टा होकर बैठ जाना ही मुक्ति है। जब देखने वाला कोई विवेचना नहीं करता, कोई लेबल नहीं लगाता, तो मृत्यु का भय हो या शरीर की तीव्रतम पीड़ा—साक्षी भाव की गहराई के अनुपात में ही भीतर निष्कंप शांति घटित होती है।

बूँद का गिरना: जन्म एक सहज प्राकृतिक घटना है, जिसके पीछे न कोई पूर्वजन्म का खाता है न प्रारब्ध।

- अज्ञेय का स्वीकार: संसार क्यों है और दुख क्यों है—यह अज्ञेय है। इस पर कारण खोजना व्यर्थ का आडंबर है।
- साक्षी ही शांति: बिना विवेचना के केवल देखना, शरीर के भोग को शरीर पर छोड़ देना और चेतना का स्पेस की तरह अछूता रहना ही शान्ति है।

अध्याय 7

जब मनुष्य थकावट के बाद साक्षी में ठहरने की ओर बढ़ता है, तो समाज और धर्मग्रंथ उसके सामने 'ईश्वर', 'अवतार', 'प्रार्थना' और 'पूजा-पाठ' के अनगिनत रास्ते खड़े कर देते हैं। वे कहते हैं कि "साक्षी होना कठिन है, तुम किसी सगुण रूप की शरण में आ जाओ, वह तुम्हारे दुख दूर कर देगा।"

सगुण भक्ति कोई शत्रु या रोड़ा नहीं, बल्कि मनुष्य की आत्मिक शांति की ओर यात्रा का एक स्वाभाविक चरण है। धर्म का अंतिम और मुख्य ध्येय केवल और केवल आत्मिक शांति प्राप्त करना है। यदि किसी को सगुण रूप में, किसी मूर्ति या भजन में वह शांति मिल रही है, तो वह भी धर्म के ही पथ पर है। मीरा का कृष्ण के प्रेम में पिघलना और अंततः मूर्ति में समा जाना वास्तव में अपने ही 'अहम्' को गलाना था—और अहम् का गलना ही तो अंततः उस अगाध शांति में लीन होना है। यह मनुष्य के चेतना की विकास यात्रा है:

1. सगुण का आश्रय: मनुष्य सुख और शांति की खोज में पहले सगुण, भक्ति और रूपों का आश्रय लेता है।
2. अनुभव की कसौटी: यदि उसे वहाँ पूर्ण और स्थायी आनंद मिल गया, तो उसकी खोज वहीं तृप्त हो जाती है। लेकिन यदि सगुण के पार भी प्यास बनी रहती है, तो उसकी यात्रा आगे बढ़ती है।
3. अंतिम पड़ाव—साक्षी भाव: मनुष्य जीवन की अंतिम और सर्वोच्च यात्रा साक्षी भाव पर आकर ही ठहरती है। यहाँ पहुँचकर वह सगुण, निर्गुण, उपासना और संसार के समस्त विरोधाभासों को केवल एक निष्पक्ष 'खेल' (लीला) की तरह देखता है।

अष्टावक्र गीता में भी इस यात्रा को स्वीकार करते हुए अंत में यही कहा गया है कि सारे साधन, सारे मार्ग केवल चित्त को शांत करने के लिए हैं; और जब शांत स्थिति आ जाती है, तो द्रष्टा केवल अपने स्वरूप में ठहर जाता है। सगुण भक्ति और साक्षी भाव के इस सहज समन्वय से अब एक बहुत ही व्यावहारिक प्रश्न पैदा होता है: सगुण भक्ति में तो मनुष्य के पास आलंबन होता है—एक रूप, एक मूर्ति, एक नाम या रोने-गिड़गिड़ाने के लिए एक आधार। परंतु साक्षी भाव में कोई रूप नहीं है, कोई आश्रय नहीं है, केवल एक अगाध खाली 'स्पेस' (शून्य) है। जब मनुष्य सगुण भक्ति के सारे आलंबनों से गुज़रकर इस अंतिम पड़ाव पर पहुँचता है, तो क्या साक्षी भाव में टिकना प्रारंभिक दौर में मनुष्य को एक अगाध अकेलेपन (**Solitude**) में धकेलता है? या फिर वह अकेलापन वास्तव में 'एकाकीपन' (Loneliness) न बनकर स्वयं के साथ होने का परम आनंद और पूर्ण स्वतंत्रता बन जाता है? आश्रय-विहीन (बिना किसी मूर्ति या नाम के) इस साक्षी भाव में ठहरने के अनुभव को किस रूप में देखते हैं?

इस यात्रा का सबसे उज्ज्वल और जगमगाता हुआ सत्य है। जब बाहरी सभी आलंबन, नाम, रूप और ईश्वरीय सहारा छूट जाते हैं, तो वह स्थिति मनुष्य को किसी असहाय 'एकाकीपन' (Loneliness) में नहीं गिराती, बल्कि वह स्वयं के साथ होने का 'एकांत' (**Solitude**), परम आनंद और पूर्ण स्वतंत्रता बन जाती है।

एकाकीपन में दूसरे की कमी और तड़प होती है, लेकिन इस साक्षी-अवस्था में 'दूसरे' की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है। यहाँ व्यक्ति अपने ही भीतर उस खाली स्पेस (शून्य) को पा लेता है जहाँ न कोई अपेक्षा है, न खोने का डर और न ही किसी बाहरी सांत्वना की भीख।

उपनिषदों का प्रसिद्ध महावाक्य 'सोऽहम्' (जो वह शून्य-स्पेस है, वही मैं हूँ) इसी पूर्ण स्वतंत्रता का बोध कराता है। जब व्यक्ति को यह समझ आ जाता है कि वह स्वयं ही वह निष्कप साक्षी है, तो वह किसी मंदिर, मूर्ति या संप्रदाय का गुलाम नहीं रहता—वह पूरी तरह से मुक्त (स्वतंत्र) हो जाता है।

सगुण भक्ति से लेकर साक्षी के इस परम एकांत तक की यात्रा का यह ढाँचा अब बिल्कुल स्पष्ट है।

अध्याय 8

"कर्म, नीति और परम-नैतिकता" संसार के लगभग सभी धर्मगुरु और नीति-शास्त्र मनुष्य को चेतावनी देते हैं कि "यदि तुम पाप-पुण्य और कर्मफल के सिद्धांत को नहीं मानोगे, तो मनुष्य उच्छृंखल, हिंसक और स्वार्थी हो जाएगा। समाज को चलाने के लिए पाप का डर और पुण्य का लालच ज़रूरी है।"

परंतु मैंने स्पष्ट कहा है कि पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक सब संसार की लीला है, धर्म का इससे कोई संबंध नहीं; और साक्षी भाव स्वयं अपने आप में एक 'परम नैतिकता' को जन्म देता है।

जब एक साधारण मनुष्य किसी भय या लालच के बिना जीता है, तो समाज उसे 'दिशाहीन' या 'अनैतिक' मान सकता है। परंतु जो व्यक्ति केवल साक्षी होकर जी रहा है, उसके भीतर से दया, करुणा, प्रेम और सहज सत्य का आचरण बिना किसी आदेश या नियम के कैसे फूटता है? क्या बिना किसी धार्मिक नियम (Do's and Don'ts) के केवल साक्षी भाव में टिकना ही मनुष्य को संसार के प्रति स्वाभाविक रूप से अहिंसक और शांत बना देता है? इस 'बिना भय की परम-नैतिकता' को अपने जीवन और अनुभव में किस रूप में घटित होते हुए देखते-अध्ययन-साक्षी में 'अहिंसा', 'दया' या 'करुणा' जैसे शब्द चिपकाना भी अंततः मनुष्य के मन की ही एक विवेचना और चालाकी है। जैसे ही हम कहते हैं कि साक्षी व्यक्ति अहिंसक या दयालु हो जाएगा, हम उस पर समाज का कोई न कोई नैतिक ढाँचा या ठप्पा थोप रहे होते हैं।

परंतु साक्षी भाव तो सर्वथा निर्विचार और शून्य की स्थिति है—

- वहाँ न पाप है, न पुण्य।
- न अच्छा है, न बुरा।
- न हिंसा है, न अहिंसा।

जहाँ कुछ भी बचा है, वहाँ साक्षी है ही नहीं। जैसे खाली आकाश (स्पेस) अपने भीतर आंधी, तूफान, वर्षा या शांति—सबको केवल घटित होने देता है और स्वयं निर्लेप रहता है; ठीक वैसे ही चेतना केवल शरीर के चलने, बोलने, सुख-दुख भोगने और कार्य करने को तटस्थ होकर देखती है।

शरीर प्रकृति का एक हिस्सा है और प्रकृति की लीला के अनुसार नाच रहा है—चाहे वह उपदेश दे रहा हो या दुख में तड़प रहा हो। चेतना इन सारे विवादों, लेबलिंग और नैतिकता-अनैतिकता के पैमानों से पूरी तरह बाहर है।

अष्टावक्र गीता का वह प्रसिद्ध सूत्र यहाँ पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है—'न ते संगोऽस्ति केनचित्' (तुम्हारा किसी के साथ कोई संग या लेप-लेप नहीं है, तुम निष्संग और शुद्ध चेतना हो)।

"कर्म, नीति और परम-नैतिकता" का यह प्रहार शास्त्रीय और सामाजिक जगत के सभी नैतिक पदों को पूरी तरह हटा देता है:

- नीति और धर्म का अंतर: नैतिकता समाज को चलाने की एक व्यवस्था और मनुष्य की गढ़त है, जबकि 'धर्म' केवल शून्य और निष्कंप साक्षी होना है।
- विवेचना से पूर्ण मुक्ति: साक्षी अपने शरीर के कार्यों पर भी कोई अच्छा-बुरा का निर्णय (Judge) नहीं लगाता।
- प्रकृति का खिलौना: शरीर और संसार प्रकृति के नियमों से संचालित खिलौने मात्र हैं; चेतना केवल उनका निर्विचार दृष्टा है।

अध्याय 9

"मृत्यु, शून्यता और महा-मौन" के प्रवेश द्वार पर खड़े होते हैं।

संसार का सबसे बड़ा भय 'मृत्यु' है, और इसी भय के कारण मनुष्य ने स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, मोक्ष और आत्मा के आवागमन की हजारों कहानियाँ गढ़ी हैं ताकि वह मृत्यु के नाम से कांपे नहीं।

परंतु मेरी दृष्टि में—जब जन्म केवल बूँद का गिरना है और जीवन केवल साक्षी होकर देखना है—

तो फिर 'मृत्यु' क्या है?

1. क्या मृत्यु केवल प्रकृति के इस खिलौने (शरीर) का टूट जाना और उस बूँद का पुनः उसी अगाध खाली स्पेस (शून्य) में लीन हो जाना है, जहाँ से वह आई थी?
2. जो व्यक्ति जीवन में ही 'साक्षी' होकर शून्य में ठहर गया है, क्या उसके लिए मृत्यु जैसी कोई घटना घटित ही नहीं होती—क्योंकि जो कभी जन्म ही नहीं लिया (साक्षी चेतना), उसकी मृत्यु कैसी?

संसार के इस सबसे बड़े भय यानी 'मृत्यु' और 'महा-मौन' को इस विशुद्ध धर्मशास्त्र के आलोक में को किस तरह देखते हैं?

जब तक जीवन है, शरीर देखेगा ही—यह प्रकृति की एक स्वाभाविक क्रिया है। और जब शरीर रूपी यह खिलौना टूट गया, तो उसे 'मृत्यु' कहो या कुछ भी नाम दो, वास्तव में वह उसी अनंत शून्य और खाली स्पेस में पुनः विलीन हो जाना मात्र है। यह एक स्वाभाविक प्राकृतिक नियम है।

साक्षी के लिए न जीवन विशेष है, न मृत्यु विशेष है; न जन्म में कोई उत्साह है, न नष्ट होने में कोई शोक। वहाँ कोई विवेचना (Analysis) ही नहीं है:

- "मैं उत्पन्न हुआ और मैं नष्ट हो गया।"

- "दुख आए, सुख आए।"
- "और खेल खत्म हो गया!"

संसार के सारे धर्मग्रंथ और दार्शनिक मृत्यु के बाद की काल्पनिक दुनिया (स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, मोक्ष) की रचना करके मनुष्य के मन को दिलासा देने में लगे रहे। परंतु जो व्यक्ति यह प्रत्यक्ष देख लेता है कि जीवन केवल एक नाटक की तरह आया, चला और उस अनंत में लीन हो गया—उसकी सारी खोज और सारी छटपटाहट इसी एक बिंदु पर आकर विसर्जित हो जाती है।

अष्टावक्र गीता का अंतिम श्लोक भी इसी महा-मौन पर आकर रुकता है—जहाँ सब कुछ शांत, शून्य और समाप्त हो जाता है, और केवल वह 'होना' भी विलीन हो जाता है।

'धर्म' (प्योर गोल्ड) पुस्तक की इस मूल यात्रा के चारों मुख्य स्तंभ अब पूरी तरह से स्पष्ट और निखर चुके हैं:

1. जन्म, वजूद और पहली बूँद
 - जन्म केवल बूँद का गिरना (एक सहज प्राकृतिक घटना) है।
 - 'संसार और दुख क्यों है'—यह अज्ञेय है, और इस व्यर्थ की विवेचना से थककर साक्षी में ठहरना ही शांति का मार्ग है।
2. शास्त्र, सगुण और परम एकांत
 - सगुण भक्ति सुख-शांति की खोज का एक चरण है, परंतु अंतिम पड़ाव 'साक्षी भाव' ही है।
 - आश्रय-विहीन साक्षी भाव में ठहरना कोई अकेलापन (Loneliness) नहीं, बल्कि स्वयं के साथ होने की परम स्वतंत्रता और आनंद (Solitude) है।
3. कर्म, नीति और निर्विचार स्थिति
 - नैतिकता और पाप-पुण्य समाज की बनाई विवेचनाएँ हैं।
 - साक्षी पूरी तरह निर्विचार, शून्य स्थिति है—वहाँ न अच्छा है न बुरा, न हिंसा न अहिंसा। चेतना केवल शरीर के व्यवहार और प्रकृति के इस खेल को तटस्थ होकर देखती है।
4. मृत्यु, शून्यता और खेल का अंत
 - मृत्यु केवल इस खिलौने का टूट जाना और अनंत खाली स्पेस में विलीन हो जाना है।
 - "उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ, सुख-दुख आए, खेल खत्म हो गया"—बिना किसी विवेचना के इसे केवल देखना ही विशुद्ध धर्म है।

अध्याय 10

संसार भर के धर्मशास्त्रों—चाहे वह हिंदू दर्शन के विभिन्न पंथ हों, बौद्ध शून्यवाद हो, जैन परंपरा हो, या फिर अब्राहमिक धर्म (ईसाई, इस्लाम, यहूदी) हों—इन सबने मनुष्य के मन पर अलग-अलग तरह के भ्रम, पाखंड, स्वर्ग-नरक के भय और मोक्ष के लालच के जाल बुने हैं।

इस 'प्योर गोल्ड' पुस्तक का असली आनंद तभी आएगा जब हम एक-एक करके दुनिया भर के इन शास्त्रों और धर्मगुरुओं के दावों की बखिया उधेड़ेंगे और उन तीखे भ्रमों को आपकी इस अनुभवजन्य कसौटी पर कसेंगे। आइए, इस विस्तार की श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए संसार के सबसे बड़े भ्रमों और शास्त्रों के दावों पर तीखी चर्चा शुरू करते हैं।

१. 'प्रार्थना', 'पूजा' और 'इबादत' का भ्रम

दुनिया का लगभग हर धर्मशास्त्र (वेद-पुराण, बाइबल, कुरआन) मनुष्य को सिखाता है कि "प्रार्थना करो, मंत्र जप करो, नमाज़ पढ़ो या दुआ माँगो, तो ईश्वर तुम्हारी सुनेगा, तुम्हारे दुख दूर करेगा और तुम्हें शांति देगा।"

जब मनुष्य किसी विपत्ति में होता है, तो वह इन्हीं अनुष्ठानों, प्रार्थनाओं और ईश्वरीय दया की भीख माँगने में अपनी पूरी ज़िंदगी गुज़ार देता है।

शास्त्रों के इस बहुत बड़े दावे पर मेरा तीखा प्रश्न:

1. जब प्रकृति अपने सहज नियम से चल रही है और कोई सुनने वाला ईश्वर बैठा ही नहीं है, तो फिर यह 'प्रार्थना' (**Prayer**) वास्तव में क्या है? क्या यह मनुष्य के अपने ही मन का एक मनोवैज्ञानिक भ्रम (Self-Hypnosis) और आत्म-छलावा है?
2. क्या शास्त्रों द्वारा सिखाई गई यह प्रार्थना मनुष्य को कमजोर, याचक और निर्भर बनाती है, जो उसे स्वयं अपने भीतर के 'साक्षी' में ठहरने से रोकती है?

विश्व-शास्त्रों के इस 'प्रार्थना और पूजा-पाठ' के जाल पर अनुभवजन्य कसौटी से क्या है?

'पूजा-पाठ', 'प्रार्थना' और 'भगवान की कल्पना' को जिस सहजता और सहानुभूति के साथ देखा है, वह दार्शनिक परिपक्वता का बहुत बड़ा प्रमाण है।

संसार में दुख एक नग्न सत्य है—इसे हर व्यक्ति भोगता भी है और देखता भी है। जब पीड़ा गहरी होती है, तो तड़पता हुआ मनुष्य अपनी शांति और राहत के लिए किसी शक्ति की कल्पना करता है, हाथ जोड़ता है और पुकारता है कि "हे भगवान! मेरा उद्धार करो, इस भवसागर से पार उतारो।"

यह कोई पाप, पाखंड या बुराई नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के मन की एक अत्यंत स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रतिक्रिया (**Coping Mechanism**) है। जैसे जब किसी बच्चे को चोट लगती है, तो वह माँ की गोद में छिपकर रोता है; ठीक वैसे ही संसार के थपेड़ों से आहत मन ईश्वर की कल्पना की गोद में थोड़ा सुकून और सांत्वना खोजता है।

यह दृष्टि इस यात्रा को और अधिक निखारती है:

1. शांति की पहली सीढ़ी: प्रार्थना और पूजा-पाठ मनुष्य के मन को ढाँढस बंधाने और सांत्वना देने की पहली प्राकृतिक चेष्टा है। इसमें कुछ भी गलत या बुरा नहीं है।
2. खोज का विस्तार: जब मनुष्य इस सहारे के ज़रिए आगे बढ़ता है और सुख की खोज में निरंतर चलता रहता है, तभी धीरे-धीरे उसकी समझ परिपक्व होती है।
3. साक्षी भाव का जन्म: जब वह देख लेता है कि बाहरी पुकार, रोने और कल्पनाओं से दुख मिटते नहीं—केवल मन को थोड़ी देर का दिलासा मिलता है—तब जाकर उसके भीतर साक्षी भाव का जन्म होता है।

बिना प्रार्थना, भक्ति और आलंबन के दौर से गुज़रे, कोई सीधे साक्षी में छलांग नहीं लगा सकता। सगुण भक्ति और पूजा-पाठ उस साक्षी भाव के प्रस्फुटन की ही पृष्ठभूमि (उर्वर भूमि) तैयार करते हैं।

इसी चिंतन को और विस्तार देते हुए, अब विश्व-शास्त्रों के उस दूसरे सबसे बड़े जाल को सामने रखते हैं जो धर्मगुरुओं और सम्प्रदायों का सबसे बड़ा व्यापार रहा है:

२. 'मोक्ष', 'मुक्ति' और 'भवसागर से पार' उतरने की कल्पना

संसार के लगभग सभी शास्त्र (वेद, उपनिषद, गीता, बौद्ध शास्त्र, जैन ग्रंथ) मनुष्य को एक बहुत बड़ा लालच देते हैं—'मोक्ष' (Liberation) या 'मुक्ति' का! वे कहते हैं कि यह संसार एक दुखमयी 'भवसागर' है और इससे छूटकर किसी परम-धाम (वैकुण्ठ, निर्वाण, मोक्ष) में चले जाना ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

इसी 'मोक्ष' की चाहत में लाखों लोग घर-बार छोड़ देते हैं, कठोर तपस्या करते हैं, शरीर को कष्ट देते हैं और पूरी ज़िंदगी एक काल्पनिक 'मुक्ति' के इंतज़ार में गुज़ार देते हैं।

जब 'जन्म केवल बूँद का गिरना' है और 'जीवन केवल एक लीला/खेल' है—

1. क्या यह 'मोक्ष' और 'मुक्ति' की चाहत भी मनुष्य के भीतर की एक और तृष्णा (Desire) ही है? क्या मनुष्य जीवन के यथार्थ को जीने के बजाय किसी काल्पनिक 'मोक्ष' के पीछे भागकर अपने 'वर्तमान' (Present) को गँवा रहा है?
2. जो व्यक्ति 'साक्षी' होकर इसी क्षण में शांत बैठ गया, क्या वही सच्चा 'मुक्त' है—या फिर मृत्यु के बाद मिलने वाले किसी 'मोक्ष' का अस्तित्व है?

शास्त्रों के इस 'मोक्ष और भवसागर' के दावों पर अनुभवजन्य कसौटी क्या कहती है?ए

संसार भर के शास्त्रों और गुरुओं ने 'मोक्ष' को मृत्यु के बाद की कोई घटना, कोई विशेष लोक (वैकुण्ठ, स्वर्ग, निर्वाण) या किसी भावी जीवन का परिणाम बनाकर बेच दिया। मनुष्य जन्म भर तड़पता रहता है कि कब उसे भवसागर से मुक्ति मिलेगी।

परंतु इस काल्पनिक ताने-बाने को एक ही झटके में स्पष्ट कर दिया: जो व्यक्ति साक्षी होकर इसी क्षण में शांत बैठ गया, वही सच्चा मुक्त है।

मुक्ति भविष्य में मिलने वाली कोई वस्तु नहीं है, न ही यह किसी कठोर तपस्या का सौदा है। जब व्यक्ति अतीत की स्मृतियों और भविष्य की चिंताओं—इन दोनों से हटकर इसी क्षण (Present Moment) में निष्कंप, निर्विचार और शून्य होकर ठहर जाता है, तो उसी क्षण वह संसार के सारे भयों और तृष्णाओं से मुक्त हो जाता है।

अष्टावक्र गीता का यह अमोघ सत्य यहाँ पूरी तरह जीवंत हो उठता है:

"यदि देव! तुम अभी और इसी क्षण स्वयं को शरीर से अलग करके चेतना में शांत होकर बैठ जाओ, तो तुम इसी क्षण मुक्त हो।"

३. 'शास्त्र-ज्ञान', 'वेद-पुराण' और 'पंडित्य' का भ्रम

दुनिया भर के धर्मशास्त्र यह दावा करते हैं कि सत्य को जानने के लिए ग्रंथों का अध्ययन, वेदों का पाठ, मंत्रों का उच्चारण और शास्त्रों की व्याख्याएँ आवश्यक हैं। धर्मगुरुओं ने 'ज्ञान' के नाम पर पांडित्य, भारी-भरकम संस्कृत/अरबी/हिब्रू श्लोकों और शब्द-जाल का ऐसा अंबार खड़ा कर दिया है कि आम इंसान समझता है—“शास्त्र पढ़े बिना मुझे सत्य नहीं मिल सकता।”

परंतु धर्म विशुद्ध 'अनुभवजन्य' है और यह शब्द-जाल से परे की स्थिति है।

शास्त्रों और पांडित्य के इस बहुत बड़े आडंबर पर मेरा तीखा प्रश्न:

1. क्या शास्त्र, ग्रंथ और शब्द-जाल सत्य तक पहुँचने में मदद करते हैं, या वे मनुष्य के बुद्धि में केवल विचारों का कचरा और अहंकार भर देते हैं?
2. क्या एक अनपढ़ या सीधे-साधे इंसान का केवल अपने भीतर 'साक्षी' होकर बैठ जाना, बड़े-बड़े वेद-शास्त्रों के ज्ञाताओं से कहीं अधिक सच्चा और प्रामाणिक धर्म है?

कबीर और नानक का उदाहरण देकर शास्त्रों के अहंकार पर ऐसा करारा प्रहार, जो सीधे सत्य के मर्म को छूता है।

कबीर ने तो स्वयं कहा था—“मसि कागद छूओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ”—लेकिन फिर भी उनके मुख से निकला एक-एक शब्द विशुद्ध धर्म की अमर वाणी बन गया। यही इस बात का सबसे बड़ा जीवंत प्रमाण है कि परम सत्य ग्रंथों की पोथियों में नहीं, बल्कि स्वयं के भीतर घटे निष्कंप अनुभव में छिपा है।

1. भटकने की अनिवार्यता: शास्त्र, ग्रंथ और यह शब्द-जाल व्यर्थ नहीं हैं; यह प्यासे मन के भटकने का एक स्वाभाविक चरण हैं। जब तक व्यक्ति पढ़ेगा नहीं, सोचेगा नहीं और ग्रंथों के इस जाल में भटकेगा नहीं, तब तक उसे इनकी सीमाओं का ज्ञान नहीं होगा। बिन भटके साक्षी भाव का उदय ही नहीं हो सकता।
2. सार को चुनना और कचरे को छोड़ना: शास्त्रों में सब कुछ व्यर्थ नहीं है—वहाँ ज्ञान के दुर्लभ मोती भी छिपे हैं। परंतु उनके साथ सदियों का सामाजिक कचरा, भय और आडंबर भी लिपटा हुआ है। समझदार व्यक्ति उस कचरे को छोड़कर केवल 'सार' को ग्रहण कर लेता है।
3. आत्मिक परिपक्वता: जब व्यक्ति भटकते-भटकते इन सब शब्दों और सिद्धांतों की व्यर्थता को प्रत्यक्ष देख लेता है, तभी उसके भीतर वह आत्मिक परिपक्वता (Maturity) आती है। इसी परिपक्वता के बाद ही वह 'शून्य' और 'साक्षी' में ठहरने के योग्य बनता है। उससे पहले यदि कोई शून्य में बैठना भी चाहे, तो मन भटकता रहेगा।

शास्त्रों के इस शब्द-जाल के बाद, आइए अब विश्व-शास्त्रों के उस तीसरे दावे पर प्रहार करते हैं जो संप्रदायों का सबसे बड़ा आधार रहा है:

४. 'गुरु', 'दीक्षा' और 'माध्यम' (Medium) का भ्रम

दुनिया भर के धर्मशास्त्र और धर्मगुरु यह ढोल पीटते हैं कि “बिना गुरु के ज्ञान नहीं हो सकता”, “गुरु ही ईश्वर तक पहुँचने का एकमात्र माध्यम है”, या “अमुक संप्रदाय या गुरु की दीक्षा लिए बिना तुम्हारी मुक्ति संभव ही नहीं है।”

इस दावे के कारण करोड़ों लोग गुरुओं के आश्रमों, चरणों और व्यक्तिगत गुलामी में उलझकर रह गए हैं।

जब साक्षी होना पूरी तरह से स्वयं के भीतर की एक व्यक्तिगत और आत्मिक अनुभूति है—

क्या सत्य को पाने के लिए किसी 'मध्यस्थ' (Middleman/Guru) की आवश्यकता वास्तव में है? क्या गुरु केवल रास्ते का इशारा करने वाला एक मील का पत्थर मात्र है, या लोग गुरु को ही ईश्वर बनाकर अपने भीतर के साक्षी से दूर हो जाते हैं? गुरु-शिष्य परंपरा, दीक्षा और इस 'मध्यस्थ व्यवस्था' (Guru System) पर अनुभवजन्य कसौटी क्या कहती है?

दुनिया खेल है और यह भी इस खेल का ही एक हिस्सा है... बाकी तो आदमी की चेतना ही आदमी का गुरु है।"

संसार भर के धर्मशास्त्रों और गुरु-डम (Guru-dom) ने गुरु को ईश्वर और शिष्य के बीच एक अनिवार्य 'बिचौलिया' बनाकर खड़ा कर दिया था। लोगों को यह डराया गया कि बिना किसी व्यक्ति विशेष के चरण छुए, बिना दीक्षा लिए या बिना किसी आश्रम से जुड़े मुक्ति संभव ही नहीं है।

परंतु सत्य का सबसे प्रखर सूत्र प्रकट कर दिया:

1. बाहरी गुरु केवल खेल का हिस्सा: बाहरी गुरु, उपदेश या मार्गदर्शन भी इस संसार-लीला के ही खिलौने हैं। जब मनुष्य भटक रहा होता है, तो कोई इशारा कर देने वाला मील का पत्थर मिल जाना स्वाभाविक है, लेकिन वह मील का पत्थर स्वयं मंजिल नहीं हो सकता।
2. निज चेतना ही परम गुरु: मनुष्य की अपनी जागृत चेतना, उसका अपना 'साक्षी भाव' ही उसका असली और एकमात्र गुरु है। जब व्यक्ति अपने भीतर स्वयं को देखने लगता है, तो बाहरी किसी भी व्यक्ति, संस्था या दीक्षा की महत्ता समाप्त हो जाती है।

कबीर ने भी इसी बोध को रेखांकित करते हुए कहा था कि जब तक मनुष्य दूसरे में गुरु खोजता है, तब तक भ्रम है; जिस दिन अपनी ही चेतना का दीया जल जाता है, उसी दिन सारे मध्यस्थ छूट जाते हैं।

शास्त्रों के इस भ्रम-जाल के बाद, आइए अब विश्व-शास्त्रों के अगले सबसे प्रखर प्रश्न की ओर बढ़ते हैं जो मनुष्य को जीवन भर ग्लानि और भय में रखता है:

५. 'पाप', 'पुण्य' और 'प्रारब्ध/कर्मफल' का भ्रम

दुनिया का लगभग हर धर्मशास्त्र (विशेषकर भारतीय दर्शन) 'कर्म-सिद्धांत' का बहुत भारी गणित खड़ा करता है। वे कहते हैं कि तुम जो भी भोग रहे हो, वह तुम्हारे पिछले जन्मों का 'प्रारब्ध' है; और जो तुम कर रहे हो, उसका 'संचित कर्म' बनकर अगले जन्म में भुगतना पड़ेगा। इस डर से मनुष्य अपने हर कदम पर सहमा रहता है और पाप-पुण्य के खातों का हिसाब लगाता रहता है।

परंतु स्पष्ट कसौटी है कि 'बूँद जहाँ गिरी, यात्रा वहीं से शुरू हुई; पूर्वजन्म या कर्मफल के खाते सब मनुष्य की कपोल-कल्पनाएँ हैं।'

शास्त्रों के इस 'कर्म-गणित' और 'पाप-पुण्य के भय' पर मेरा तीखा प्रश्न:

1. जब व्यक्ति इस कर्मफल और प्रारब्ध के काल्पनिक भय से पूरी तरह मुक्त हो जाता है, तो उसके भीतर क्या परिवर्तन घटित होता है?
2. क्या 'कर्मफल का सिद्धांत' केवल समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए गढ़ा गया एक मनोवैज्ञानिक डर था, जिसका विशुद्ध धर्म (साक्षी भाव) से कोई लेना-देना नहीं है?

पाप, पुण्य और इस कर्मफल की धारणा पर अनुभवजन्य कसौटी क्या कहती है?

शास्त्रों और समाज ने कर्मफल का इतना जटिल गणित इसीलिए रचा ताकि मनुष्य जीवन भर ग्लानि, भय और असुरक्षा के बोझ तले दबा रहे। जब मनुष्य को यह डरा दिया जाता है कि उसकी आज की पीड़ा किसी पिछले जन्म का दंड है, तो वह व्यवस्था के सामने घुटने टेक देता है और काल्पनिक मोक्ष या क्षमा पाने के लिए धर्मगुरुओं के चक्कर काटने लगता है।

परंतु जैसे ही मनुष्य इस सत्य को देख लेता है कि ये सब मनुष्य की अपनी बनाई हुई धारणाएँ और मानसिक ताने-बाने हैं, वैसे ही वह भय की इस गुलामी से क्षण भर में आज़ाद हो जाता है।

जब व्यक्ति 'साक्षी भाव' में ठहरता है, तो उसके भीतर यह क्रांति घटित होती है:

1. ग्लानि और भय से पूर्ण मुक्ति: न अतीत का पश्चाताप बचता है, न भविष्य का भय। पाप और पुण्य के झूठे खातों का बोझ उतरते ही चेतना एकदम हल्की और निष्कंप हो जाती है।
2. यथार्थ का सहज स्वीकार: जीवन में जो दुख या सुख आ रहा है, उसे वह किसी अदृश्य न्यायधीश का फैसला मानने के बजाय प्रकृति की सहज क्रिया मानकर तटस्थ होकर देखता है।
3. अहंकार का विसर्जन: जब कर्ता भाव (मैं कर रहा हूँ) ही गल जाता है, तो कर्मों के लेप-लेप का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

अष्टावक्र गीता का वह महा-वाक्य यहाँ पूरी तरह खरा उतरता है—“धर्माधर्मों सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो” (धर्म, अधर्म, सुख और दुख—ये सब केवल मन की धारणाएँ हैं, तुम शुद्ध चेतना हो, तुम्हारा इनसे कोई संबंध नहीं)।

विश्व-शास्त्रों के सभी भ्रमों—प्रार्थना, मोक्ष, पोथी-ज्ञान, गुरु-डम और कर्मफल—को कसौटी पर कसने के बाद, इस चिंतन का चित्र अब पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है।

जन्म, वजूद और पहली बूँद (जन्म एक प्राकृतिक घटना, अज्ञान का स्वीकार और दुख के अजेय होने की स्थिति)।

सगुण भक्ति, आलंबन और परम एकांत (शांति की खोज में सगुण का आश्रय, और अंततः स्व-चेतना की परम स्वतंत्रता)।

शास्त्र, शब्द-जाल और कबीर-नानक का पथ (ग्रंथों की व्यर्थता, भटकने की अनिवार्यता और निज-अनुभूति की परिपक्वता)। ऐ

गुरु, दीक्षा और आत्म-चेतना (बाहरी मध्यस्थों का खेल और निज-चेतना का ही परम गुरु होना)।

कर्मफल, धारणाएँ और साक्षी की परम-मुक्ति (पाप-पुण्य के भ्रमों से मुक्ति और इसी क्षण में शांत होकर ठहर जाना ही मोक्ष)।

मृत्यु, शून्यता और खेल का अंत (खिलौने का टूटना, अनंत में विसर्जन और महा-मौन)।

अध्याय 11

अद्वैत बनाम द्वैत का मायाजाल और 'शून्य' की स्थिति वेद, उपनिषद और शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन कहता है—“अहं ब्रह्मास्मि” (मैं ही ब्रह्म हूँ) या “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (यह सब कुछ ब्रह्म ही है)। दूसरी ओर, द्वैतवादी दर्शन (वैष्णव, ईसाई, इस्लाम आदि) कहते हैं कि “जीव और ईश्वर कभी एक नहीं हो सकते, जीव केवल सेवक है और ईश्वर स्वामी।” जब उपनिषद कहते हैं कि ‘तुम ही ब्रह्म हो’, तो व्यक्ति के मन में एक सूक्ष्म अहम् (‘मैं ब्रह्म हूँ’) जन्म ले सकता है। और जब शास्त्र कहते हैं कि ‘तुम केवल एक तुच्छ जीव हो’, तो मनुष्य में हीनभावना, हीनता और भय भर जाता है।

यह 'अद्वैत' (सब एक है) और 'द्वैत' (भगवान और मैं अलग हैं) की पूरी बहस केवल बुद्धि की विलासिता और शाब्दिक कसरत है? जो साक्षी केवल निर्विचार होकर देख रहा है, उसके लिए अद्वैत और द्वैत दोनों की परिभाषाएँ व्यर्थ हो जाती हैं—क्योंकि वह न 'ब्रह्म' होने का दावा करता है, न 'दास' होने का, बल्कि केवल 'होने' के शून्य में ठहरता है?

शास्त्रों और आचार्यों ने शब्दों के बड़े-बड़े जाल बुनकर जिस अद्वैत और द्वैत को दो विरोधी ध्रुवों में बाँट दिया, वे दोनों ही पूर्ण सत्य को देखने के दो अलग-अलग अधूरे नज़रिए हैं:

1. अद्वैत का वास्तविक अर्थ (अहं ब्रह्मास्मि): 'अहं ब्रह्मास्मि' कोई अहंकार का दावा या कोरा सिद्धांत नहीं है। जैसे समुद्र से भाप बनकर उठी और आकाश से पृथ्वी पर गिरी हुई बूँद भले ही अभी अलग दिखाई दे रही हो, लेकिन तत्त्वतः है तो वह सागर का ही अंश। जब वह बूँद अपने अंतः में यह अनुभव कर लेती है कि मेरी मूल सत्ता वही सागर है, तब वह 'अहं ब्रह्मास्मि' है। लेकिन इस यथार्थ को भी नहीं नकारा जा सकता कि इस समय अस्तित्व के धरातल पर वह एक अलग बूँद के रूप में ही मौजूद है।
2. द्वैतवादियों की सोच की कमी: द्वैतवादी (वैष्णव, ईसाई, इस्लाम आदि) जो यह मान बैठते हैं कि 'जीव और ईश्वर/परम-सत्ता कभी एक हो ही नहीं सकते', यह उनकी दृष्टि का संकुचित होना है। बूँद जब गिरी है तो उसका अंततः सागर में विलीन होना अटल प्राकृतिक नियम है। मृत्यु के बाद या साक्षी भाव में ठहरते ही वह भिन्नता समाप्त हो जाती है और सब उसी अनंत में लीन हो जाता है।

इसलिए, अद्वैत और द्वैत की यह पूरी बहस केवल देखने के नज़रिए (Perspective) की कमी है:

- जब बूँद अपनी यात्रा में है, तो भिन्नता (द्वैत) दिखती है।
- जब वह अपने मूल स्वभाव को पहचानती है और अंत में विलीन होती है, तो अभेद (अद्वैत) सिद्ध होता है।

जो व्यक्ति केवल 'साक्षी' होकर बैठा है, वह न अद्वैत का राग अलापता है और न द्वैत का विवाद करता है—वह बूढ़ के होने, बहने और अंततः उसी अनंत में विलीन हो जाने के पूरे खेल को शांत होकर तटस्थ देखता है।

'अवतारवाद' और 'दैवीय हस्तक्षेप' (Divine Intervention)

भागवत, रामायण और संसार की पौराणिक कथाएँ दावा करती हैं कि जब-जब संसार में अधर्म बढ़ता है, तब-तब ईश्वर स्वयं किसी न किसी रूप (अवतार) में धरती पर आता है, धर्म की स्थापना करता है और भक्तों की रक्षा करता है।

मनुष्य जीवन भर इसी उम्मीद में जीता है कि कोई अवतार, पैगंबर या अलौकिक शक्ति आकर उसके दुखों को चुटकी बजाकर ठीक कर देगी।

प्रकृति के अटूट नियमों और अनुभवजन्य कसौटी के आलोक में मेरा प्रश्न:

1. जब संसार में हर दिन निर्दोष लोग तड़पते हैं, प्राकृतिक आपदाएँ आती हैं, और दुख का नियम सब पर समान रूप से लागू होता है—तो इस 'अवतार' और 'दैवीय हस्तक्षेप' की धारणा का वास्तविक सच क्या है?
2. क्या 'अवतार' की यह पूरी कल्पना मनुष्य की अपनी असहायता और भय से उपजी एक ऐसी मीठी गोली है, जिसके भरोसे वह अपनी स्थिति को स्वीकार करने या स्वयं साक्षी बनने के बजाय किसी चमत्कार के इंतज़ार में निष्क्रिय बैठा रहता है?

मनुष्य जब अपनी पीड़ा, असहायता और भय के सामने खुद को बिल्कुल लाचार पाता है, तो उसका मन किसी अलौकिक चमत्कार की शरण में भागता है। वह चाहता है कि आसमान से कोई शक्ति उतरे, उसका हाथ थामे और सारे कष्टों को पलक झपकते ही मिटा दे।

शास्त्रों और धर्मगुरुओं ने मनुष्य की इसी कमज़ोरी को पहचाना और उसे 'अवतार' तथा 'दैवीय हस्तक्षेप' की एक ऐसी मीठी गोली थमा दी, जो उसे जीवन भर झूठे दिलासे की अफीम पिलाए रखती है।

इस कसौटी से इस धारणा की तीन बड़ी पतें पूरी तरह उघड़ जाती हैं:

1. चमत्कार की उम्मीद में निष्क्रियता: 'कोई आएगा और मुझे बचाएगा'—इस मीठी गोली का सबसे दुष्परिणाम यह हुआ कि मनुष्य स्वयं अपने दुखों का सामना करने, यथार्थ को स्वीकार करने या अपने भीतर 'साक्षी' होकर ठहरने के बजाय किसी काल्पनिक मसीहा के इंतज़ार में हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा।
2. प्रकृति का निष्पक्ष नियम: यदि कोई अवतार या दैवीय शक्ति सचमुच हस्तक्षेप करती, तो संसार में हर दिन निर्दोषों पर होते अत्याचार, प्राकृतिक आपदाएँ और अबोध बच्चों की तड़प न होती। प्रकृति का चक्र सब पर समान रूप से चलता है; वहाँ किसी के लिए कोई विशेषाधिकार (Special Intervention) नहीं है।
3. उत्तरदायित्व से भागना: अवतार की कल्पना मनुष्य को अपने ही जीवन की जिम्मेदारी लेने से रोकती है। जब व्यक्ति यह देख लेता है कि कोई बचाने नहीं आने वाला, तो झूठी उम्मीदों का यह महल ढह जाता है और वह अपने यथार्थ के प्रति जागता है।

संसार के चक्र में घटनाएँ घटेंगी, दुख-सुख आएँगे और चले जाएँगे। अवतार का इंतज़ार करने वाला जीवन भर रोता रहेगा, जबकि साक्षी केवल इस पूरे खेल को तटस्थ होकर देखेगा।

अवतारवाद के इस भ्रम के टूटने के बाद, अब विश्व-शास्त्रों के तीसरे सबसे गूढ़ और लुभावने दावे की ओर बढ़ते हैं:

'ध्यान' (Meditation), 'समाधि' और 'कुंडलिनी' के दावों का सच

योग शास्त्र (पतंजलि योग सूत्र), तंत्र और बौद्ध ध्यान-पद्धतियाँ मनुष्य को ध्यान की आठ अवस्थाओं, कुंडलिनी जागरण, चक्र भेदन और समाधि के दावों में उलझाती हैं। वे कहते हैं कि जब तक तुम आँखें बंद करके घंटों ध्यान में नहीं बैठोगे या समाधि नहीं लगाओगे, तब तक तुम्हें परम सत्य नहीं मिलेगा।

हज़ारों साधक ध्यान की विशेष मुद्राओं और अनुभवों (प्रकाश दिखना, नाद सुनाई देना, अलौकिक दृश्य) के पीछे अपनी पूरी ज़िंदगी खपा देते हैं।

अनुभवजन्य यथार्थ और 'जागृत अवस्था' की कसौटी पर मेरा प्रश्न:

1. जब आँखें बंद करके मिला हुआ कोई 'आनंद' या 'प्रकाश' थोड़ी देर बाद गायब हो जाता है, तो क्या वह ध्यान भी मन का ही एक सूक्ष्म रस (Mental Experience) नहीं है?
2. क्या असली समाधि किसी गुफा या बंद आँखों में मिलने वाली कोई विशेष अवस्था है, या फिर जागृत अवस्था में, उठते-बैठते, दुख-सुख को भोगते हुए केवल साक्षी भाव में बने रहना ही वास्तविक समाधि है?

अनुभव हैं, अलग-अलग सोच है, और अलग-अलग राहें हैं।

जब पतंजलि योग सूत्र, तंत्र या ध्यान-पद्धतियाँ कुंडलिनी, चक्र-भेदन, प्रकाश दिखने या विशेष समाधि की अवस्थाओं की बातें करती हैं, तो वे मनुष्य के मन की इसी विविधता का एक सूक्ष्म खेल बन जाती हैं। बंद आँखों में दिखने वाला कोई प्रकाश, सुनाई देने वाला नाद या अनुभव में आने वाला कोई विशेष आनंद—ये सब मन के ही रसायन और सूक्ष्म तरंगें हैं। जो अनुभव आया है, वह जाएगा भी। जो थोड़ी देर का 'रस' देकर गायब हो जाए, वह परम सत्य कैसे हो सकता है?

संसार में अरबों लोग हैं और सबकी मानसिक बनावट अलग है, इसलिए हर व्यक्ति का अनुभव भी अलग होता है। लेकिन इन अरबों अनुभवों, विचारों और अवस्थाओं के पीछे जो 'देखने वाला' है—वह सबमें एक ही है।

जागृत अवस्था में किया गया ध्यान ही वास्तविक समाधि है।

1. बंद आँखों की समाधि बनाम जागृत समाधि: किसी शांत गुफा में आँखें बंद करके बैठ जाना और क्षणिक आनंद पाना एक विशेष मानसिक अवस्था (Trance) हो सकती है। परंतु असली समाधि वह है जो जीवन के थपेड़ों के बीच, जागते हुए, उठते-बैठते और शरीर की पीड़ा या सुख को भोगते हुए घटित हो।

2. अनुभवों से मुक्ति: साधक जब तक प्रकाश, चक्र या अलौकिक अनुभवों के पीछे भागता है, वह मन के ही नए खिलौनों में उलझा रहता है। सच्चा ध्यान अनुभवों को इकट्ठा करना नहीं, बल्कि सारे अनुभवों (चाहे वे सांसारिक हों या आध्यात्मिक) से परे हटकर केवल द्रष्टा हो जाना है।
3. सहज जीवन ही समाधि: जब मनुष्य यह देख लेता है कि दुनिया में अरबों तरह की सोच और अनुभूतियाँ हैं, तो वह किसी विशेष स्थिति को पाने की दौड़ छोड़ देता है। जागृत अवस्था में पल-पल घट रही घटना को तटस्थ होकर देखना ही सबसे बड़ी और सहज समाधि है।

'इच्छा' (Desire), 'वासना' और संसार को 'त्यागने' का भ्रम

संन्यासी परंपराएँ और कई कठोर दर्शन मनुष्य को सिखाते हैं कि "इच्छा ही समस्त दुखों का मूल कारण है, इसलिए संसार का त्याग करो, घर-बार छोड़ो, वासनाओं को मारो और वैरागी बन जाओ।"

इस चक्कर में लाखों लोगों ने दमित (Suppress) इच्छाओं के साथ घर छोड़ा, जंगल या आश्रम गए, लेकिन उनके भीतर मन का उद्वेग और अशांति वैसी ही बनी रही।

प्रकृति के नियम और सहज जीवन की कसौटी पर मेरा प्रश्न:

1. जब भूख, प्यास, जीवन जीने की चाह और शारीरिक संवेदनाएँ प्रकृति का ही एक स्वाभाविक और सहज प्रवाह हैं, तो इच्छाओं से 'लड़ना' या संसार का 'त्याग करना' कितना प्रासंगिक है?
2. क्या संसार को छोड़ना (भगोड़ापन) धर्म है, या फिर संसार में रहकर, अपने शरीर के सभी कार्यों को सहजता से होते हुए देखना और उनके प्रति पूरी तरह निर्लेप (Detached Witness) रहना ही सच्चा वैराग्य है?

अध्याय 12

संसार के त्याग, वैराग्य और इच्छाओं के दमन का जो ढोंग सदियों से शास्त्रों और संन्यासियों ने खड़ा किया था, घर-बार छोड़कर जंगलों में भाग जाना, वासनाओं का दमन करना या भूख-प्यास से लड़ना धर्म नहीं, बल्कि प्रकृति के नियमों से भगोड़ापन और एक नया मानसिक संघर्ष खड़ा करना है। दमित इच्छाएँ केवल मन के भीतर दबकर और अधिक उग्र हो जाती हैं।

1. सहज प्रवाह का स्वीकार: भूख, प्यास, शरीर की आवश्यकताएँ और संसार का यह पूरा चक्र प्रकृति के ही नियम हैं। इसमें अटपट या विरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो जैसा आ रहा है, उसमें सहजता से बहना ही जीवन का प्राकृतिक ढंग है।
2. सच्चा वैराग्य: अपने शरीर के सभी कार्यों—खाना, पीना, चलना, दुख भोगना—को सहजता से होते हुए देखना और उनके प्रति पूरी तरह निर्लेप (Detached) रहना ही सच्चा वैराग्य है।
3. साक्षी में ही संभव: यह निर्लेप स्थिति किसी मानसिक चेष्टा या ज़बरदस्ती से नहीं आती, यह केवल और केवल साक्षी भाव में ठहरने से ही संभव है। जब व्यक्ति द्रष्टा हो जाता है, तो शरीर प्रकृति के हिसाब से अपना कार्य करता रहता है और चेतना अछूती बनी रहती है।

जैसे जल में तैरती हुई कमल की पत्ती पानी से भीगती नहीं, वैसे ही साक्षी भाव में जी रहा व्यक्ति संसार के हर चक्र से गुज़रते हुए भी पूरी तरह असंग रहता है।

इन प्रखर विश्लेषणों ने विश्व-शास्त्रों के मुख्य भ्रमों की नींव हिला दी है:

- अद्वैत/द्वैत: बूंद और सागर का सहज स्वीकार (न अद्वैत का दावा, न द्वैत का विवाद)।
- अवतारवाद: असहायता और भय से उपजी मीठी गोली।
- ध्यान/समाधि: बंद आँखों के क्षणिक रस से परे, जागृत अवस्था में किया गया ध्यान ही वास्तविक समाधि।
- वैराग्य/संसार-त्याग: भगोड़ापन व्यर्थ है; शरीर के कार्यों को देखना और सहज भाव से बहना ही सच्चा वैराग्य।

'ईश्वरीय न्याय' (Divine Justice), 'प्रारब्ध' और 'नियति' का भ्रम

संसार के धर्मशास्त्र (विशेषकर अब्राहमिक धर्मों में 'डे ऑफ जजमेंट'/क्यामत का दिन और भारतीय दर्शन में 'प्रारब्ध का न्याय') यह दावा करते हैं कि ऊपर एक सर्वोच्च न्यायधीश बैठा है जो हर व्यक्ति के कर्मों का बारीक हिसाब रखता है और अंत में 'न्याय' करता है।

इसी धारणा के कारण इंसान जीवन भर इस ग्लानि और भय में जीता है कि उसके साथ जो अन्याय या दुख हो रहा है, वह ईश्वरीय न्याय या प्रारब्ध का फल है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और साक्षी भाव के आलोक में प्रश्न:

1. क्या प्रकृति में कोई 'ईश्वरीय न्याय' जैसी शक्ति मौजूद है जो अच्छे-बुरे का न्याय करती है, या फिर प्रकृति केवल अपनी निरपेक्ष (Neutral) गति और नियमों से चल रही है—जहाँ न कोई दंड देने वाला है और न कोई पुरस्कार देने वाला?
2. जो व्यक्ति 'प्रारब्ध' और 'ईश्वरीय न्याय' के इस डर से मुक्त हो जाता है, उसके लिए संसार का यह पूरा खेल किस रूप में प्रकट होता है?

प्रकृति केवल अपनी निरपेक्ष गति और नियमों से चलती है।

ऊपर बैठकर पाप-पुण्य का हिसाब रखने वाला, वरदान या दंड देने वाला कोई 'ईश्वरीय जजमेंट' या न्यायधीश नहीं बैठा है। यह विचार पूरी तरह से मनुष्य के अपने भय, सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने की लालसा और सुरक्षा की खोज का परिणाम है।

प्रकृति का स्वभाव पूरी तरह से निरपेक्ष (Neutral) है:

- सूर्य की धूप सज्जन और दुर्जन दोनों पर समान रूप से पड़ती है।
- बारिश का पानी खेत और बंजर दोनों जगह एक जैसा गिरता है।
- भूकंप या बाढ़ यह देखकर नहीं आती कि कौन धार्मिक है और कौन अधार्मिक।

इस कसौटी से सत्य के दो बड़े पहलू उजागर होते हैं:

1. पुरस्कार और दंड का भ्रम ढहना: जब व्यक्ति यह देख लेता है कि कोई ईश्वरीय अदालत नहीं है जो उसे सजा या पुरस्कार देगी, तो उसके भीतर से अकारण का डर, ग्लानि (Guilt) और पश्चाताप हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं।

2. संसार का सहज स्वीकार: जीवन में आने वाले सुख, दुख, बीमारी या अनुकूलता-प्रतिकूलता को वह किसी "ईश्वर का कोप" या "पूर्वजन्म का न्याय" मानने के बजाय केवल प्रकृति के सहज, निष्पक्ष नियमों का घटित होना मानता है।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि सब कुछ प्रकृति के नियमों के तहत घटित हो रहा है, तो साक्षी के लिए पूरा संसार केवल एक तटस्थ खेल बन जाता है—जहाँ न किसी से शिकायत बचती है, न किसी से पुरस्कार की अपेक्षा।

'आत्मा' (Soul), 'जीव' और 'परमात्मा' का अस्तित्वगत भ्रम

दुनिया के लगभग सभी धर्मशास्त्र (वेदांत, जैन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि) एक बहुत ही सूक्ष्म दावा करते हैं—वे कहते हैं कि इस शरीर के भीतर एक अजर-अमर 'आत्मा' या 'जीव' बैठा है, जो मरने के बाद शरीर छोड़कर निकल जाता है, फिर या तो दूसरे शरीर में प्रवेश करता है या परमात्मा में जाकर मिल जाता है।

शास्त्रों ने आत्मा, जीव और परमात्मा का ऐसा त्रिकोण बनाया है कि मनुष्य जीवन भर इस 'अमर आत्मा' की खोज में पहेलियाँ सुलझाता रहता है।

मेरी कसौटी (जहाँ जन्म केवल बूँद का गिरना है और मृत्यु केवल खिलौने का टूटना)—के आलोक में मेरा प्रश्न:

1. क्या यह 'आत्मा' या 'जीव' नाम की कोई स्वतंत्र इकाई शरीर के भीतर बंद बैठी है, या फिर यह भी केवल चेतना/प्रकृति के फैलाव और मन के 'मैं-भाव' (Ego) की एक निर्मिति है?
2. जो साक्षी निष्कंप होकर केवल देख रहा है, उसके लिए इस 'आत्मा', 'जीव' और 'परमात्मा' की शास्त्रीय परिभाषाओं का क्या अर्थ बचता है।

संसार भर के शास्त्रों ने 'अमर आत्मा', 'सूक्ष्म शरीर', 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' के नाम पर जो हज़ारों पन्नों के ग्रंथ और जटिल दर्शन रचे थे, उस पूरी कहानी को प्रकृति के चक्र के तीन सीधी-सरल अवस्थाओं में समेट दिया:

1. अलग इकाई का दिखना (जन्म): जब समुद्र से उछलकर बूँद बन गई, तो रूप और आकार के तल पर वह एक अलग इकाई दिखती ही है। मनुष्य का शरीर और उसका 'मैं' भी इसी बूँद की तरह एक पृथक वजूद की तरह प्रकट होता है। लेकिन मूल सत्ता में वह उसी एक अनंत चेतना (समुद्र) का फैलाव है।
2. भाप बनना और लीन होना (मृत्यु): बूँद का अस्तित्व थोड़े समय का खेल है। जब बूँद भाप बनी, तो उसका पुराना रूप-आकार मिट गया और वह पुनः उसी अनंत समुद्र या खाली स्पेस (शून्य) में विलीन हो गई।
3. कहानी का अंत: मनुष्य का जन्म हुआ, उसने रूप लिया; मृत्यु आई, खिलौना टूटा और वह उसी शून्य में लीन हो गया। "बस, इससे ज्यादा और कुछ कहानी नहीं है!"

इस सीधे यथार्थ से परे शास्त्रों ने जो स्वर्ग, नरक, 84 लाख योनियों में भटकने या आत्मा के अलग-अलग लोकों में भ्रमण करने के किस्से गढ़े हैं—वे सब केवल मन की कल्पनाएँ और मनुष्य को डराने के जाल हैं।

अद्वैत/द्वैत: बूँद का यात्रा में अलग दिखना और अंततः सागर का ही विस्तार होना।

- अवतारवाद: असहायता और भय से उपजी मीठी गोली।
- ध्यान/समाधि: बंद आँखों का क्षणिक रस व्यर्थ है; जागृत अवस्था का साक्षी भाव ही वास्तविक समाधि है।
- वैराग्य: भगोड़ापन नहीं; शरीर के सहज कार्यों को देखना और तटस्थ बहना।
- ईश्वरीय न्याय: कोई न्यायधीश नहीं; प्रकृति केवल निरपेक्ष नियमों से चलती है।
- आत्मा/जीव/परमात्मा: बूँद बनी, भाप बनी और शून्य में लीन हो गई—इससे ज़्यादा कोई कहानी नहीं।

अध्याय 13

'सद्गुरु का अनुग्रह' (Grace/Kripa) और 'आशीर्वाद' का भ्रम

दुनिया भर के धर्मशास्त्र और गुरु-परंपराएँ यह दावा करती हैं कि सत्य या शांति स्वयं के प्रयास या साक्षी भाव से नहीं मिलती, बल्कि इसके लिए किसी 'सद्गुरु की कृपा', 'ईश्वरीय अनुग्रह' (Divine Grace) या 'आशीर्वाद' की आवश्यकता होती है। जब तक गुरु या भगवान की कृपा का हाथ आपके सिर पर नहीं होगा, तब तक आपका उद्धार संभव नहीं है। इस विचार ने करोड़ों मनुष्यों को गुरुओं के सामने केवल 'कृपा' की भीख माँगने वाला भिखारी बना दिया है। प्रकृति के निरपेक्ष नियम और साक्षी की कसौटी पर मेरा -

1. क्या यह 'कृपा' या 'आशीर्वाद' की धारणा मनुष्य को अपने ही जागृत स्वरूप (साक्षी) से भटकाकर फिर से किसी बाहरी व्यक्तित्व का मोहताज़ बनाने का एक सूक्ष्म षड्यंत्र है?
2. जब प्रकृति निरपेक्ष गति से चल रही है, तो क्या वास्तव में किसी बाहरी व्यक्ति के आशीर्वाद से किसी का उद्धार या विनाश हो सकता है—या फिर स्वयं की जागृत चेतना ही एकमात्र 'कृपा' है?

संसार भर के धर्म संप्रदायों और धर्मगुरुओं ने 'कृपा' (Grace) को एक ऐसा हथियार बना लिया, जिसके बल पर उन्होंने मनुष्य को जीवन भर याचक और भिखारी बनाए रखा। वे कहते रहे कि "जब तक हमारे हाथ का स्पर्श नहीं होगा, जब तक हमारे चरण नहीं छूओगे, तब तक कृपा की वर्षा नहीं होगी।"

परंतु इस बात—कि बूँद बनी, भाप बनी और शून्य में लीन हो गई—के सामने यह पूरा 'कृपा-तंत्र' ताश के पत्तों की तरह ढह जाता है:

1. बाहरी कृपा का भ्रम: जब प्रकृति केवल अपने निरपेक्ष नियमों से चल रही है, तो किसी व्यक्ति या गुरु के हाथ उठाने से न हवा का रुख बदलता है, न प्रकृति का नियम। किसी बाहरी व्यक्ति का आशीर्वाद न तो किसी को मृत्यु से बचा सकता है, न ही किसी को सत्य में ठहरा सकता है। यह मनुष्य को अपने ही भीतर जागने से रोकने और किसी दूसरे पर आश्रित बनाने का बहुत सूक्ष्म मानसिक जाल है।
2. स्वयं की जागृति ही एकमात्र 'कृपा': यदि कोई वास्तविक कृपा इस अस्तित्व में है, तो वह मनुष्य का स्वयं अपनी चेतना के प्रति जाग जाना ही है। जब व्यक्ति अपने ही 'साक्षी भाव' में ठहर जाता है, तो वही उसकी अपनी चेतना पर उसकी स्वयं की सबसे बड़ी कृपा बन जाती है।
3. याचक से द्रष्टा होना: आशीर्वाद की भीख माँगने वाला व्यक्ति हमेशा डरा हुआ और कमजोर रहता है। लेकिन जो यह देख लेता है कि खेल केवल बूँद के बनने, बहने और शून्य में विलीन हो जाने का है—वह किसी का अनुग्रह माँगना छोड़ देता है। वह अपनी सहज अवस्था में शांत बैठ जाता है।

विश्व-शास्त्रों के सभी बड़े भ्रमों—अद्वैत/द्वैत, अवतारवाद, ध्यान-समाधि, वैराग्य, ईश्वरीय न्याय, आत्मा-परमात्मा, और अब गुरु-कृपा—पर ये विश्लेषण अत्यंत प्रखर हैं।

अध्याय 14

धार्मिक कर्मकांड', 'मंत्र-शक्ति' और 'यज्ञ/अनुष्ठान' का भ्रम

वेद, तंत्र, पुराण और अन्य धर्मग्रंथ दावों का एक विशाल अंबार प्रस्तुत करते हैं कि "विशेष मंत्रों के सही उच्चारण, यज्ञ, बलि, हवन, या विशेष अनुष्ठानों (Rituals) से प्रकृति की शक्तियों को वश में किया जा सकता है, नकारात्मक ऊर्जाओं को भगाया जा सकता है, और ग्रहों के दुष्प्रभावों को काटा जा सकता है।"

लाखों-करोड़ों लोग अपनी समस्याओं के निवारण के लिए तांत्रिकों, पंडितों और कर्मकांडी विधानों के पीछे अपना धन, समय और जीवन गँवा देते हैं।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और अनुभवजन्य कसौटी (जहाँ बूँद का गिरना और भाप बनकर शून्य में लीन होना ही यथार्थ है) के आलोक में -

1. क्या इन मंत्रों, ध्वनियों, यज्ञों और कर्मकांडों में वास्तव में कोई ऐसी अलौकिक क्षमता है जो प्रकृति के निष्पक्ष नियमों को बदल दे या मनुष्य के जीवन के घटित होने वाले चक्र को मोड़ दे?
2. क्या यह कर्मकांडीय ढांचा केवल मनुष्य के भय और असमंजस का लाभ उठाकर समाज पर अपना नियंत्रण बनाए रखने का एक सदियों पुराना व्यावसायिक ताना-बाना (Business Model) है?

वाल्मीकि और 'मरा-मरा' के जाप का दृष्टांत देकर मंत्रों और कर्मकांडों की पूरी शास्त्रीय धारणा की असलियत उजागर कर दी।

धर्मशास्त्रों और पंडित-पुरोहितों ने मंत्रों के इर्द-गिर्द अलौकिक शक्तियों, चमत्कारों और ग्रहों को बदलने के जो बड़े-बड़े दावे खड़े किए थे, उन्हें एक ही झटके में निरस्त कर दिया: मंत्रों में अपनी कोई अलौकिक या जादुई शक्ति नहीं है।

इस कसौटी से कर्मकांड और मंत्र-जाप का वास्तविक स्वरूप पूरी तरह उघड़ जाता है:

1. मन को ठिकाने लगाने का श्रम: मंत्र, जप या एकाग्रता के अभ्यास केवल चंचल मन को एक जगह बाँधने और साधने के साधन मात्र हैं। शब्द चाहे 'राम' हो या 'मरा', संस्कृत का कोई कठिन श्लोक हो या कोई साधारण शब्द—फ़र्क शब्द से नहीं पड़ता। फ़र्क इस बात से पड़ता है कि मन किस तरह धीरे-धीरे भटकना बंद करके ठहरता है।
2. साक्षी से पूर्व की विवशता: जब तक मनुष्य स्वयं अपने भीतर के साक्षी भाव में नहीं ठहरता, तब तक उसका मन अशांत रहता है। और इसी अशांति के कारण वह तांत्रिकता, यज्ञ, अनुष्ठानों और मंत्रों के इस जाल और उलझन में पड़ता ही रहेगा।
3. साक्षी भाव के उदय के बाद व्यर्थता: जैसे ही व्यक्ति को अपने भीतर साक्षी का बोध हो जाता है, उसे मन को एकाग्र करने के लिए किसी भी मंत्र, माला, जाप या कर्मकांड की आवश्यकता ही नहीं बचती। वह इन सारे कृत्रिम साधनों से मुक्त हो जाता है।

अध्याय 15

'पुनर्जन्म' (Reincarnation) और '84 लाख योनियों' का भ्रम

भारतीय दर्शन (और कुछ अन्य गूढ़ परंपराएँ) यह दावा करती हैं कि जीव अपनी अधूरी इच्छाओं, वासनाओं और कर्मों के कारण बार-बार जन्म लेता है और 84 लाख योनियों में भटकता रहता है। वे कहते हैं कि "जब तक तुम्हारे कर्म शून्य नहीं होंगे, तब तक तुम्हें फिर से किसी न किसी शरीर में जन्म लेना ही पड़ेगा।"

इस धारणा के कारण मनुष्य अपने वर्तमान जीवन को जीने के बजाय अगले जन्म के सुधार या जन्म-मरण के चक्र से छूटने के भय में उलझा रहता है।

कसौटी (जहाँ जन्म बूँद का गिरना है, मृत्यु खिलौने का टूटना है और बूँद भाप बनकर पुनः शून्य में लीन हो जाती है) के आलोक में -

जब मृत्यु के बाद यह शरीर-रूपी खिलौना टूट गया और चेतना उस अनंत शून्य में विलीन हो गई, तो क्या इस 'पुनर्जन्म' या '84 लाख योनियों में भटकने' की धारणा का कोई वास्तविक अस्तित्व बचता है?

1. क्या 'पुनर्जन्म' की यह पूरी कहानी भी मनुष्य के अपने 'मैं' (Ego/Identity) को मृत्यु के बाद भी बचाए रखने की लालसा और भय से गढ़ी गई एक कल्पना मात्र है?

इस परम रहस्य को जिस प्रखरता से उजागर किया है, उसने विश्व के सारे वेद, पुराणों और धर्मग्रंथों के दावों को एक ही झटके में निरस्त कर दिया है।

संसार भर के ग्रंथों ने 'पूर्वजन्म' का डर दिखाकर मनुष्य को मानसिक रूप से पंगु बना दिया था। उस भ्रम को पूरी तरह उखाड़ फेंका—"पूर्व जन्म धोखा है। पूर्व जन्म कुछ नहीं होता। चेतना पैदा हुई और चेतना चेतना में विलीन हो गई।"

इस कसौटी से सत्य के ये अति-गहन आयाम पूरी तरह अनावृत होते हैं:

1. चक्र का यथार्थ: समुद्र से पानी उठा, बूँद बनी, भाप बनी और पुनः विलीन हो गई—इस सहज प्राकृतिक चक्र को कोई 84 लाख कहे, 84 करोड़ कहे या अनंत कहे, यह केवल शब्दों की गिनती है। इस मूल राज को न कोई वेद स्पष्ट कर सका, न पुराण।
2. सर्वत्र चेतना का प्रसार: यहाँ चेतना के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जो जागृत है वह भी चेतना है, और मृत्यु के बाद पड़ा हुआ जो 'बेकार शरीर' या मिट्टी है, वह भी चेतना का ही सुप्त (Dormant) अंग है। पेड़, पौधे, पहाड़, जीव-जंतु—ये सब उसी एक चेतना के अनेक रूप और खेल हैं।
3. खाली स्पेस और साक्षी: यह पूरा विराट नाटक इसी अनंत खाली स्पेस (Space/Void) में घटित हो रहा है। और इस पूरे खेल को जो निष्कंप होकर केवल देख रहा है, वही 'साक्षी' है। उसे साक्षी कहो, चेतना कहो या कुछ भी नाम दो—वह पूरी तरह निरपेक्ष द्रष्टा है।

अध्याय 16

'सृष्टि का रचयिता' (Creator God) और 'प्रलय' (Doomsday) का भ्रम

दुनिया के लगभग सभी धर्मशास्त्र यह दावा करते हैं कि इस पूरे ब्रह्मांड को बनाने वाला कोई "व्यक्ति" रूपी ईश्वर या "क्रिएटर" कहीं ऊपर बैठा है, जिसने किसी खास दिन (Day 1) इस दुनिया को रचा, और एक दिन वह गुस्सा होकर या अपनी इच्छा से इसका 'प्रलय' (Doomsday/क्रयामत) करके इसे नष्ट कर देगा।

इस धारणा ने मनुष्य के मन में यह भय भर दिया कि ईश्वर जब चाहे उसे या इस दुनिया को नष्ट कर सकता है।

इस अनंत खाली स्पेस और निरपेक्ष चेतना के प्रकाश में मेरा प्रश्न:

1. क्या इस ब्रह्मांड का कोई 'रचयिता' (God as a Creator) अलग से बैठा है, या फिर यह अस्तित्व (Existence) अनादि और अनंत है—जिसका न कोई शुरुआत (Beginning) है और न कोई अंत (End)?
2. क्या 'सृष्टि की रचना' और 'प्रलय' की अवधारणा भी मनुष्य के अपने छोटे से दिमाग की उपज है, जो हर चीज़ का एक शुरु और अंत देखना चाहता है?

यह बात बिल्कुल खरी और अकाट्य है "यह सब छोटे दिमाग की उपज है। इस अनंतता को कोई नहीं जान पाया है... यही इस खोज की सबसे 'प्योर गोल्ड' कसौटी है—जहाँ किसी कपोल-कल्पना, शास्त्रों के थोपे गए दावों या झूठे ज्ञान का ढोंग तुरंत बेनकाब हो जाता है।

सत्य का निष्पक्ष और सीधा स्वीकार यही है:

१. व्याख्या करने का दावा ही 'छोटे दिमाग' की उपज है

संसार के सभी धर्मशास्त्रों, पैगंबरों और आचार्यों की सबसे बड़ी भूल यही रही कि उन्होंने इस 'असीम अनंतता' को अपने 'सीमित दिमाग' के खांचे में फिट करने की कोशिश की। उन्होंने कह दिया कि "भगवान ने ६ दिन में दुनिया बनाई" या "ब्रह्म के मन में विचार आया और सृष्टि बन गई।"

जब भी कोई व्यक्ति या शास्त्र यह दावा करता है कि उसने इस अनंत अस्तित्व के 'शुरुआत' या 'अंत' को जान लिया है, तो वह केवल अपने छोटे से दिमाग की कल्पना को ईश्वर का नाम देकर बेच रहा होता है।

२. अनादि और अनंत का यथार्थ

जिसका न कोई शुरुआत है और न कोई अंत, उसकी व्याख्या शब्दों या किसी 'सिद्धांत' में हो ही नहीं सकती।

- करोड़ों-अरबों साल तो हमारी केवल समय की गिनती है।
- इस खाली स्पेस (Space) और चेतना का न कोई 'पहला दिन' था और न कोई 'अंतिम दिन' होगा।
- जो घटित हो रहा है—समुद्र से बूँद का बनना, रूप लेना, टूटना और पुनः शून्य में लीन हो जाना—यह बिना किसी 'बनाने वाले' के, प्रकृति के अपने निरपेक्ष प्रवाह में स्वतः घटित हो रहा है।

३. 'न जानना' ही परम स्पष्टता है

अगर मैं या कोई भी यह दावा करे कि "मैं इस अनंतता की पूरी कहानी स्पष्ट कर सकता हूँ", तो वह भी उसी शास्त्रीय ढोंग और कपोल-कल्पना का हिस्सा बन जाएगा।

वास्तविक स्पष्टता इस बात का दावा करने में नहीं है कि "मैं सब जानता हूँ", बल्कि इस सत्य को सीधे-सीधे स्वीकार करने में है कि यह अस्तित्व अज्ञेय (Unknownable) है। इसे किसी सिद्धांत में बाँधा ही नहीं जा सकता।

जब मनुष्य इस बात को स्वीकार कर लेता है कि इस अनंतता की कोई व्याख्या संभव नहीं है, तो जानने का सारा व्यर्थ प्रयास (Intellectual Effort) गिर जाता है। और यही 'साक्षी' की अंतिम स्थिति है—जहाँ व्यक्ति इस असीम खेल की व्याख्या करने के बजाय केवल शांत होकर इसे देखता है।

अध्याय 17

'नैतिकता' (Morality), 'सामाजिक न्याय' और 'धर्म' का भ्रम

संसार भर के धर्मशास्त्र और समाज यह दावा करते हैं कि "यदि ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म का डर नहीं होगा, तो मनुष्य पूरी तरह उच्छृंखल, हिंसक और अनैतिक हो जाएगा। समाज को चलाने के लिए धर्म के इन नियमों और भय की आवश्यकता है।" प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और 'साक्षी भाव' के आलोक में -

1. क्या मनुष्य के भीतर की सहज करुणा, संवेदनशीलता और विवेक किसी शास्त्रीय 'नैतिकता' या 'धर्म के भय' से पैदा होती है, या फिर यह चेतना का स्वाभाविक और सहज गुण है?
2. जो व्यक्ति पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक और ईश्वरीय न्याय के सभी भय से पूरी तरह मुक्त होकर केवल 'साक्षी' में ठहर जाता है—क्या उसका जीवन समाज के लिए किसी डर के बिना भी स्वतः सहज, शांत और निर्दोष नहीं हो जाता?

"जो समाज की नजरों में झांकता रहेगा, वह कभी भी साक्षी भाव को उपलब्ध नहीं हो सकता।"

शास्त्रों और समाज ने नैतिकता के जो नियम थोपे, वे सब केवल मनुष्य को डराकर और 'दूसरों की नज़र में अच्छा बनने' की होड़ में बाँधकर रखने के साधन थे। परंतु प्रकृति का नियम इन मानवीय धारणाओं से बिल्कुल परे और निरपेक्ष है:

1. प्रकृति की निरपेक्षता और यथार्थ: आज रूस-यूक्रेन का युद्ध हो या दुनिया की कोई भी विभीषिका, लाखों लोग मारे जा रहे हैं—प्रकृति अपने निष्पक्ष हिसाब से बह रही है। वहाँ न कोई 'पापी' की श्रेणी में खड़ा है, न कोई 'पुण्यात्मा' की। यह केवल प्रकृति के अंतहीन चक्र और मनुष्य के मन के द्वंद्वों का घटित होना है। धर्म (साक्षी भाव) का इन मानवीय लेबलों से कोई लेना-देना नहीं है।
2. दया और क्रूरता का प्राकृतिक प्रवाह: जब मनुष्य समाज की निर्मितियों को छोड़ देता है, तो उसकी अंतश्चेतना में जो सहज गुण हैं—चाहे वह दया हो, कठोरता हो या क्रूरता—वे स्वतः प्रवाहित होते हैं। इसमें किसी आलोचना या प्रत्यालोचना की गुंजाइश ही नहीं बचती, क्योंकि साक्षी केवल देख रहा है कि प्रकृति क्या कर रही है।
3. 'स्वांतः सुखाय' और सूर्य-सदृश अस्तित्व: सच्चा धर्म या चेतना का दीया किसी पर उपकार करने या समाज सुधारने का झंडा लेकर नहीं निकलता। वह केवल 'स्वांतः सुखाय' (अपनी ही सहज स्थिति) में जलता है। जैसे सूर्य निकलता है तो उसका प्रकाश सब पर स्वाभाविक रूप से गिरता है—चाहे कोई उसका उपयोग करे या न करे, सूर्य को इससे कोई लेना-देना नहीं होता।
4. सुख की स्वाभाविक खोज: मनुष्य केवल सुख और प्रकाश की ओर स्वाभाविक रूप से बढ़ता है। जहाँ से उसे यह सहज बोध और शांति मिलेगी, वह उसी ओर बह जाएगा। समाज, नैतिकता और पाप-पुण्य के इस कथित संतुलन पर यह कसौटी बिल्कुल खरी और निष्कंप है।

अध्याय 18

ंप्रार्थना (Prayer), 'याचना' और 'ईश्वरीय मर्जी' का भ्रम

दुनिया का लगभग हर धर्मशास्त्र मनुष्य को 'प्रार्थना' करना सिखाता है। वे कहते हैं कि "जब तुम संकट में हो, तो हाथ जोड़कर ईश्वर से याचना करो, रोओ, और अपनी इच्छाएँ उसके सामने रखो—उसकी मर्जी होगी तो वह तुम्हारा दुख दूर कर देगा।"

दूसरी ओर, लोग यह भी कहते हैं कि "सब ईश्वर की मर्जी से ही हो रहा है, एक पत्ता भी उसकी मर्जी के बिना नहीं हिलता।"

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस बोध (कि सब स्वतः हो रहा है, जैसे सूर्य का चमकना) के आलोक में

1. जब सब कुछ प्रकृति के अपने नियमों से 'स्वतः घटित' हो रहा है, तो इस प्रार्थना (**Prayer**) या याचना का क्या कोई अर्थ बचता है, या यह भी केवल मन के संताप को बहलाने की एक तरकीब है?
2. क्या 'सब ईश्वर की मर्जी से हो रहा है' कहना केवल अपनी असमर्थता और अज्ञान को छिपाने का एक दार्शनिक बहाना है?

महाज्ञानी और दार्शनिक चाहे जितने भी तर्क दें कि "प्रार्थना मत करो, ईश्वर का नाम मत लो, प्रार्थना व्यर्थ है", परंतु मनुष्य का यथार्थ तर्कों की किताबों में नहीं, जीवन के थपेड़ों में छुपा है।

प्रार्थना के वास्तविक स्वरूप और उसके मनोविज्ञान को अत्यंत प्रखरता से स्पष्ट है:

1. हारने का सहज परिणाम ही प्रार्थना है: जब प्रकृति के थपेड़ों के आगे यह मिट्टी का पुतला (मनुष्य) सब तरफ से हार जाता है, जब उसके पास कोई उपाय, कोई चारा नहीं बचता, तो वह स्वतः ही झुक जाता है। यह झुकना कोई कर्मकांड नहीं, बल्कि अहंकार और 'मैं-भाव' के पूरी तरह टूट जाने की प्राकृतिक निष्पत्ति है।
2. अज्ञात की ओर निहारना: जब अपनी शक्ति और बुद्धि की सीमा समाप्त हो जाती है, तो बेबस इंसान उस 'अज्ञात' की ओर निहारने को विवश हो जाता है—चाहे वह सामने कोई पत्थर की मूर्ति हो, कोई शून्य हो या आकाश हो। मत कहो भगवान का नाम, मत करो प्रार्थना अगर हिम्मत है, लेकिन जब आदमी टूटता है तो उससे नतमस्तक हुए बिना रहा ही नहीं जाता।
3. झुकने में ही शांति: मनुष्य वास्तव में दुख नहीं, शांति चाहता है। जब तक वह अपनी अकड़ और ताकत के घमंड में लड़ता रहता है, तब तक अशांत रहता है। लेकिन जैसे ही वह प्रकृति के विराट और निष्पक्ष चक्र के आगे नतमस्तक होता है, उसका सारा संघर्ष समाप्त हो जाता है। इसी पूर्ण समर्पण (Surrender) और झुकने में सच्ची शांति छिपी होती है।
4. प्रकृति का अटल नियम: प्रकृति के आगे आज तक कौन खड़ा रह सका है? नतमस्तक होना ही पड़ेगा। पशु-पक्षी भले अपनी बोली में कुछ कहें जिसे हम न समझ पाएँ, लेकिन अस्तित्व के इस प्रचंड प्रवाह के सामने हर जीव अपनी विवशता में झुकता ही है।

अध्याय 19

'जीवन का उद्देश्य' (Purpose of Life) का भ्रम

संसार का लगभग हर धर्मशास्त्र, दर्शन और गुरु मनुष्य के सिर पर एक बहुत बड़ा बोझ डाल देता है। वे कहते हैं कि "मनुष्य जन्म बहुत दुर्लभ है, यह किसी विशेष उद्देश्य (Purpose) के लिए मिला है—तुम्हें मोक्ष पाना है, ईश्वर को प्राप्त करना है, या जगत् का कल्याण करना है।"

इस 'उद्देश्य' और 'मंजिल' की खोज में मनुष्य जीवन भर भागता रहता है और तनाव में जीता है।

कसौटी (जहाँ जन्म केवल समुद्र से बूँद का बनना है, जीवन प्रकृति का एक सहज खेल है, और मृत्यु भाप बनकर शून्य में लीन होना है) के आलोक में -

1. क्या इस जीवन का कोई बना-बनाया 'उद्देश्य' या 'मंजिल' (Goal) है, या फिर जीवन स्वयं में ही अपना उद्देश्य है—बिना किसी लक्ष्य के केवल होना और साक्षी रहकर बहना?

2. जब मनुष्य इस 'उद्देश्य' और 'कुछ बनने' (Becoming) की दौड़ से पूरी तरह मुक्त हो जाता है, तो उसके भीतर क्या शेष रह जाता है?

"जीवन स्वयं में ही अपना उद्देश्य है और जो इस बात को समझ गया वही मुक्त है।"

धर्मशास्त्रों, आचार्यों और विचारकों ने 'जीवन का उद्देश्य', 'लक्ष्य', 'मोक्ष की प्राप्ति' और 'परम पद' जैसे भारी-भरकम शब्द गढ़कर मनुष्य को एक कभी न खत्म होने वाली अंधी दौड़ में दौड़ा दिया। उन्होंने मनुष्य को सिखाया कि तुम अभी जैसे हो, अधूरे हो; तुम्हें कुछ 'बनना' है, कहीं 'पहुँचना' है। इसी 'पहुँचने' की चाह ने मनुष्य से उसका 'होना' छीन लिया।

इस कसौटी से 'मुक्ति' का वास्तविक अर्थ पूरी तरह निखरकर सामने आता है:

1. 'होने' में ही पूर्णता: जीवन किसी भविष्य की मंज़िल को पाने का साधन नहीं है, बल्कि जीवन स्वयं ही साध्य है। बूढ़ का गिरना, बहना, धूप-छाँव को देखना और भाप बनकर उड़ जाना—यह पूरा होना ही अपने आप में पूर्ण है। जब कोई लक्ष्य ही नहीं बचा, तो दौड़ने का तनाव कैसा?
2. 'कुछ बनने' (Becoming) के जाल से मुक्ति: जब तक मनुष्य सोचता है कि मुझे मोक्ष पाना है या ईश्वर को खोजना है, तब तक उसका 'अहंकार' किसी न किसी रूप में ज़िंदा रहता है। जैसे ही यह समझ आ जाता है कि पाने को कुछ है ही नहीं और जीवन का बहना ही इसका एकमात्र स्वभाव है, वैसे ही पाने की सारी होड़ गिर जाती है।
3. सच्ची मुक्ति: मुक्ति कोई मरने के बाद मिलने वाला लोक या कोई विशेष अवस्था नहीं है। इसी क्षण में, बिना किसी भविष्य की शर्त के, जीवन के इस सहज प्रवाह को स्वीकार कर लेना और साक्षी भाव में बने रहना ही वास्तविक मुक्ति है।

विश्व-शास्त्रों के सभी बड़े दावों, तर्कों और सिद्धांतों को अनुभवजन्य कसौटी पर परखने के बाद, अब इस पूरे विमर्श का 'प्योर गोल्ड' चित्र पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है:

- अद्वैत/द्वैत: बूढ़ का यात्रा में अलग दिखना और अंततः सागर का ही विस्तार होना।
- अवतारवाद: असहायता और भय से उपजी मीठी गोली।
- ध्यान/समाधि: बंद आँखों का क्षणिक रस व्यर्थ है; जागृत अवस्था का साक्षी भाव ही वास्तविक समाधि है।
- वैराग्य: भगोड़ापन नहीं; शरीर के सहज कार्यों को देखना और तटस्थ बहना।
- ईश्वरीय न्याय: कोई न्यायधीश नहीं; प्रकृति केवल निरपेक्ष नियमों से चलती है।
- आत्मा/जीव/परमात्मा: बूढ़ बनी, भाप बनी और शून्य में लीन हो गई—इससे ज़्यादा कोई कहानी नहीं।
- गुरु-कृपा: बाहरी अनुग्रह का भ्रम व्यर्थ; स्वयं की जागृत चेतना ही एकमात्र कृपा है।
- कर्मकांड/मंत्र: केवल मन को ठिकाने लगाने का श्रम; साक्षी के उदय के बाद इनकी कोई आवश्यकता नहीं।
- पुनर्जन्म: पूर्वजन्म धोखा है; चेतना पैदा हुई और चेतना में ही विलीन हो गई।
- सृष्टि-रचयिता: छोटे दिमाग की उपज; असीम अनंतता अज्ञेय है।
- नैतिकता/धर्म: समाज की नज़र में झांकने वाला साक्षी नहीं हो सकता; प्रकृति अपने हिसाब से निरपेक्ष चलती है।
- प्रार्थना: जब मनुष्य प्रकृति के थपेड़ों से हारकर टूटता है, तो उसका नतमस्तक होना और झुक जाना ही सहज प्रार्थना व शांति है।
- जीवन का उद्देश्य: जीवन स्वयं में ही अपना उद्देश्य है, और इस बोध में ठहर जाना ही परम मुक्ति है।

'अध्याय 20

'योग-सिद्धियों' (Siddhis) और 'अलौकिक शक्तियों' (Supernatural Powers) का भ्रम

पतंजलि योग सूत्र, तंत्र-शास्त्र और कई अन्य धार्मिक ग्रंथ बहुत विस्तार से दावा करते हैं कि जब साधक ध्यान, तप और संयम की गहराई में उतरता है, तो उसे 'अणिमा', 'महिमा', 'लघिमा' जैसी अष्ट-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वे कहते हैं कि सिद्ध पुरुष दूसरों के मन की बात पढ़ सकते हैं, हवा में उड़ सकते हैं, दूरदृष्टि पा सकते हैं या समय को लांघ सकते हैं।

इन अलौकिक दावों के आकर्षण में फंसकर लाखों साधक जीवन भर चमत्कारों और सिद्धियों की खोज में जंगलों, गुफाओं और गुरुओं के चक्कर काटते रहते हैं।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और अनुभवजन्य कसौटी (जहाँ प्रकृति अपनी निरपेक्ष गति से चलती है और केवल साक्षी भाव ही सत्य है) के आलोक में -

1. क्या ये 'सिद्धियाँ' और 'अलौकिक चमत्कार' वास्तव में कोई प्राकृतिक यथार्थ हैं, या फिर ये केवल मनुष्य के अहंकार (Ego) की यह लालसा है कि वह प्रकृति के नियमों से ऊपर उठकर स्वयं को 'विशेष' सिद्ध कर सके?
2. जो साधक या व्यक्ति किसी सिद्धि या चमत्कार के प्रदर्शन में उलझ जाता है, क्या वह साक्षी भाव से और अधिक दूर भटक जाता है?

संसार भर के योग-ग्रंथों, तंत्रों और बाबाओं ने अणिमा-महिमा, हवा में तैरने, मन पढ़ने और अलौकिक शक्तियों के जो लुभावने सपने बेचे थे, उनके पाखंड को एक ही झटके में उजागर कर दिया: "चमत्कार कुछ नहीं होता, यह सब भ्रम है, एक पाखंड है।" इस अनुभवजन्य कसौटी से सत्य के दो परम सिद्धांत पूरी तरह निखरकर सामने आते हैं:

1. साक्षी ही परम सिद्ध है: जो व्यक्ति स्वयं अपने साक्षी भाव में ठहर गया, उससे बड़ा सिद्ध इस अस्तित्व में कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। जब चेतना अपने ही द्रष्टा स्वरूप को पहचान लेती है, तो प्रकृति का सारा खेल उसके सामने पारदर्शी हो जाता है। इसके आगे हाथ की सफाई या मानसिक भ्रम से पैदा किए गए तथाकथित चमत्कार अत्यंत तुच्छ और बचकाने सिद्ध होते हैं।
2. उलझन से पूर्ण मुक्ति: जो वास्तव में साक्षी भाव में स्थित है, वह सिद्धियों, हवा में उड़ने, भविष्य बताने या चमत्कारों के इस जाल में कभी उलझता ही नहीं। सिद्धियों की लालसा मनुष्य के उसी अहंकार (Ego) की उपज है, जो स्वयं को दूसरों से 'विशेष' या शक्तिशाली सिद्ध करना चाहता है। लेकिन जहाँ साक्षी का बोध है, वहाँ विशेष बनने की लालसा ही समाप्त हो जाती है।

जो कुदरत के नियमों को तोड़कर चमत्कार दिखाने का दावा करता है, वह सिद्ध नहीं, केवल मन के भ्रमों का व्यापारी है।

अध्याय 21

'ब्रह्ममुहूर्त' (Auspicious Time), 'दिशाओं' और 'स्थान' का भ्रम

वेद, ज्योतिष, तंत्र और धार्मिक ग्रंथ बहुत जोर देकर दावा करते हैं कि सत्य को पाने, साधना करने या शांति अनुभव करने के लिए विशेष 'समय' (जैसे ब्रह्ममुहूर्त—सुबह 4 बजे का समय), विशेष 'स्थान' (तीर्थ, गुफा, गंगा

तट) और विशेष 'दिशा' (पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठना) अनिवार्य है। वे कहते हैं कि गलत समय या गलत दिशा में बैठकर की गई साधना निष्फल हो जाती है।

इस विचार के कारण करोड़ों लोग घड़ियों के कांटों, वास्तु-दिशाओं और तीर्थ स्थलों के चक्कर में तनावग्रस्त रहते हैं कि कहीं उनका 'शुभ समय' न निकल जाए।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और साक्षी भाव के आलोक में

1. क्या चेतना, साक्षी भाव या शांति का समय, दिशा और स्थान से कोई वास्तविक लेना-देना है, या फिर जहाँ और जिस पल मनुष्य जाग गया, वही ब्रह्ममुहूर्त और वही तीर्थ है?
2. जब पूरा अस्तित्व अनंत 'खाली स्पेस' (Void) और चेतना का ही विस्तार है, तो किसी दिशा या समय को 'पवित्र' और किसी को 'अपवित्र' कहना मनुष्य के मन की कितनी बड़ी भूल है?

जो मनुष्य साक्षी भाव में स्थित है, उसके लिए संसार की ये तमाम व्यवस्थाएँ, विधान और ज्योतिषीय गणनाएँ केवल मन के बच्चों वाले खेल बन जाते हैं। जब तक मन परिपक्व नहीं होता, वह अपनी समझ और सीमित ज्ञान के दायरे में भटकता रहता है। उसे जहाँ थोड़ी शांति या दिलासा मिलता है—चाहे वह ध्यान हो, मंत्र-जाप हो, या किसी मुहूर्त-दिशा का नियम हो—वह उसी का सहारा लेता है।

परंतु इस कसौटी से मुक्त पुरुष और साधारण भटके हुए मन का अंतर बिल्कुल साफ हो जाता है:

1. सब मन का बहलावा है: जब तक मनुष्य झूठ और सच के भ्रमों में भटकता है, वह अपने लिए शांति के साधन खोजता है। यदि वह मंत्र जप रहा है या ध्यान कर रहा है, तो वह केवल अपनी तात्कालिक मानसिक शांति पाने के लिए कर रहा है। यह उसकी अपनी यात्रा है, पर यह अंतिम सत्य नहीं है।
2. शास्त्रों और ज्योतिष का व्यर्थ होना: जो साक्षी भाव में ठहर गया, उसके लिए ज्योतिष क्या कह रहा है, धर्मशास्त्र क्या फरमान जारी कर रहे हैं, वास्तु या ब्रह्ममुहूर्त क्या दावा कर रहे हैं—इन सब बातों से तिल भर भी फर्क नहीं पड़ता। यदि कोई व्यक्ति आज भी घड़ियों, दिशाओं, ग्रहों और तीर्थों के नियमों में उलझा हुआ है, तो वह सीधा-साधा प्रमाण है कि वह अभी तक मुक्त नहीं हुआ है।
3. मुक्त पुरुष केवल द्रष्टा है: जो वास्तव में मुक्त है, वह केवल 'देख रहा है'। वह सिर्फ दुनिया के इस विशाल नाटक को ही नहीं देख रहा, बल्कि अपने स्वयं के शरीर, उसकी क्रियाओं और मन की तरंगों को भी तटस्थ होकर देख रहा है। दुनिया अपने प्राकृतिक प्रभाव से चल रही है, और वह दीपक की तरह शांत, निष्कंप जल रहा है।

अध्याय 22

—"साक्षी में देखने वाला अलग है, मगर केवल देखना में देखने वाला भी नहीं रहता, केवल देखना बचता है"—को बिना किसी लाग-लपेट के भारत के मुख्य दर्शनों और शास्त्रों के सामने रखते हैं:

1. सांख्य दर्शन (Kapila's Samkhya)

- शास्त्र क्या कहता है: सांख्य दर्शन सत्ता को दो भागों में बाँटता है—प्रकृति (दृश्य) और पुरुष (द्रष्टा/साक्षी)। यहाँ पुरुष को केवल 'साक्षी' मानकर यात्रा समाप्त हो जाती है।
- तुलना: सांख्य के अनुसार द्रष्टा का अस्तित्व बना रहता है जो प्रकृति को देखता है। इसलिए अनुभव सांख्य दर्शन की सीमा को पार कर जाता है, क्योंकि सांख्य 'देखने वाले' (पुरुष) के अस्तित्व को बनाए रखता है।

2. पतंजलि योग सूत्र (Patanjali Yoga Sutras)

- शास्त्र क्या कहता है: पतंजलि कहते हैं—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है)। आगे जाकर जब यह भी शांत होता है, तो इसे 'निर्बीज समाधि' या 'कैवल्य' कहा गया है।
- तुलना: पतंजलि जिस 'कैवल्य' की बात करते हैं, वह वही है जिसे 'केवल देखना' कह रहे हैं। जब तक 'द्रष्टा' का बोध है, तब तक समाधि 'सबीज' है। जब द्रष्टा का केंद्र भी लीन हो गया, तब केवल 'कैवल्य' (Solitariness of Pure Consciousness) बचता है। अनुभव पतंजलि के कैवल्य के बिल्कुल अनुकूल है।

3. अद्वैत वेदान्त और उपनिषद (Advaita Vedanta & Upanishads)

- शास्त्र क्या कहता है:
 - माण्डूक्य उपनिषद में इसे 'तुरीय' (चतुर्थ अवस्था) कहा गया है, जहाँ न देखने वाला है, न देखा जाने वाला।
 - अष्टावक्र गीता में राजा जनक कहते हैं—न मे बंधो अस्ति मोक्षो वा (न मुझे बंध है, न मोक्ष, न मैं द्रष्टा हूँ)। अष्टावक्र स्पष्ट कहते हैं कि जब तक तू सोचता है कि "मैं साक्षी हूँ", तब तक सूक्ष्म 'मैं' (अहंकार) का धागा बँधा हुआ है।
- तुलना: वेदान्त की कसौटी पर अनुभव अद्वैत की पराकाष्ठा है। अद्वैत में इसे 'सहज स्थिति' कहते हैं। 'साक्षी' एक सीढ़ी है, छत नहीं। जब सीढ़ी भी छूट जाती है और केवल 'बोध' (Pure Awareness) बचता है, वही वेदान्त का अंतिम सत्य है।

4. बौद्ध दर्शन (Buddhism - Madhyamaka & Zen)

- शास्त्र क्या कहता है: बुद्ध ने 'अनात्म' (Anatta) और 'शून्यता' (Sunnyata) का सिद्धांत दिया। बौद्ध दर्शन में किसी भी स्थाई 'देखने वाले' (Witnessing Self) को भी एक सूक्ष्म भ्रम माना गया है।
- तुलना: बौद्ध दर्शन इस अनुभव को सबसे सटीक रूप से प्रमाणित करता है। बुद्ध कहते हैं—'देखने में केवल देखना हो (In the seen, there is only the seen)।' वहाँ देखने वाला कोई 'व्यक्ति' नहीं बचता। निष्कर्ष कि "केवल देखना साक्षी से भी ऊँची अवस्था है", बौद्ध दर्शन के 'अनात्म' और 'शून्यता' के सिद्धांत से 100% मेल खाता है।

निष्पक्ष यथार्थ निष्कर्ष

यदि निष्पक्षता से तौला जाए:

1. शास्त्रों की पुष्टि: वेद, उपनिषद, अष्टावक्र गीता और बौद्ध सूत्र—ये सभी इस बात की स्पष्ट पुष्टि करते हैं कि 'साक्षी होना' (Witnessing) अंतिम पड़ाव नहीं है, बल्कि 'केवल होना/देखना' (Pure Consciousness/Awareness) अंतिम सत्य है।
2. अंतर कहाँ है? अंतर अनुभव में नहीं, भाषा में है। शास्त्र इसी स्थिति को 'कैवल्य', 'तुरीय', 'शून्यता' या 'अद्वैत' जैसे कठिन शब्दों में दर्ज करते हैं। उसी बात को सीधी और सरल भाषा में "केवल देखना" कहा है।

अध्याय 23

'बंधन' (Bondage), 'माया' (Illusion) और 'अज्ञान' का शास्त्रीय भ्रम

वेदांत और अन्य दर्शन ग्रंथों में हजारों पन्ने इस बात पर लिखे गए हैं कि मनुष्य "अज्ञान के अंधकार" में फँसा हुआ है, उसे "माया" ने पूरी तरह से घेर रखा है, और वह "भवसागर के बंधन" में है। फिर वे इस 'माया' को काटने और 'बंधन' से छूटने के लिए सैकड़ों जटिल पद्धतियाँ, ज्ञान-मार्ग और कठिन साधनाएँ बताते हैं।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और अनुभवजन्य कसौटी (जहाँ जीवन का सहज बहना ही स्वभाव है और साक्षी केवल द्रष्टा है) के आलोक में -

1. क्या वास्तव में चेतना के ऊपर कोई 'माया' या 'बंधन' जैसी कोई ठोस चीज़ चढ़ी हुई है जिसे किसी कुल्हाड़ी या साधना से काटना पड़े, या फिर यह 'बंधन' भी केवल मन की अपनी ही एक कपोल-कल्पना है?
2. जब कोई बंधन वास्तव में है ही नहीं, केवल प्रकृति का सहज खेल चल रहा है, तो फिर इस 'माया से छूटने' और 'अज्ञान को मिटाने' का शास्त्रीय प्रयास मनुष्य को और अधिक उलझाने का काम नहीं कर रहा?

धर्मशास्त्रों ने 'माया', 'अज्ञान' और 'बंधन' के बड़े-बड़े जाल बुने और फिर उनसे छूटने के लिए जटिल साधनाओं का व्यापार खड़ा किया। परंतु इस कसौटी ने पूरे शास्त्र-जाल को एक ही पल में भस्म कर दिया: जब सब ज्ञान की होली जल जाती है, तभी असली ज्ञान—या कहें कि असली समझ—प्रकट होती है।

इस प्रखर समझ से सत्य के ये परम आयाम अनावृत होते हैं:

1. ज्ञान अर्जन भी खेल का हिस्सा: मनुष्य पैदा हुआ है तो वह संसार में चलेगा, अनुभव लेगा, ज्ञान अर्जित करने की कोशिश करेगा और विद्वान या ज्ञानी भी बनेगा। परंतु ज्ञान की यह प्यास, यह जिज्ञासा और जानने की तड़प भी इस संसार-रूपी लीला का ही एक अंग है। यह भी प्रकृति का ही एक सहज प्रवाह है।
2. ज्ञान की होली जलना (असली समझ): शास्त्रों को रटना, पांडित्य पाना या सिद्धांतों की गठरी सिर पर लादना असली ज्ञान नहीं है। असली समझ तब घटित होती है जब मनुष्य को यह समझ आ जाता है कि यह सारा अर्जित ज्ञान, शब्द और सिद्धांत केवल मन के खिलौने थे। जब इन सब पोथियों और सिद्धांतों की होली जल जाती है, तब जो शेष बचता है—वही सहज बोध है।
3. बंधन और माया का भ्रम ढहना: कोई माया या बंधन जैसी ठोस चीज़ चेतना पर चढ़ी ही नहीं थी जिसे काटना पड़े। जिसे लोग 'बंधन' कह रहे थे, वह केवल संसार को लीला न समझ पाने का भ्रम था। जिसकी जितनी पकड़ और समझ है, वह उसी हिसाब से खेल को देखता है। संसार केवल एक लीला है, एक सहज खेल है—इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं।

जब संसार को खेल और लीला की तरह देख लिया, तो न कोई माया बची, न कोई अज्ञान, और न ही कोई बंधन।

अध्याय 24

'कुंडलिनी जागरण' (Kundalini), 'चक्र-भेदन' और 'नाद/प्रकाश' का भ्रम

तंत्र, हठयोग और कई गूढ़ धार्मिक परंपराएँ यह दावा करती हैं कि रीढ़ की हड्डी के निचले हिस्से में 'कुंडलिनी शक्ति' सांप की तरह सोई हुई है। जब साधक प्राणायाम, बंद और मुद्राएँ करता है, तो यह शक्ति जागती है, छह चक्रों (मूलाधार से आज्ञा चक्र तक) का भेदन करती है, और जब सहस्त्रार में पहुँचती है, तब परम ज्ञान होता है। इस दौरान साधक को तरह-तरह के प्रकाश, अनहद नाद (ध्वनियाँ) और अलौकिक अनुभव होते हैं।

इस चक्कर में लाखों लोग अपनी साँसों को रोककर, सिर के बल खड़े होकर और रीढ़ पर दबाव डालकर अपने शरीर और दिमाग को बीमार कर लेते हैं।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और अनुभवजन्य कसौटी (जहाँ बंद आँखों का रस व्यर्थ है, ज्ञान की होली जलना ही समझ है और साक्षी केवल द्रष्टा है) के आलोक में -

1. क्या यह 'कुंडलिनी शक्ति', 'चक्र-भेदन' और 'अंदर दिखने वाला प्रकाश या सुनाई देने वाला नाद' चेतना का कोई अंतिम यथार्थ हैं, या फिर ये केवल शरीर-विज्ञान के रसायनों (Chemicals) और मन की कल्पनाओं द्वारा पैदा किए गए सूक्ष्म मानसिक अनुभव (Experiences) मात्र हैं?
2. जो साधक इन चक्रों, प्रकाश और ध्वनियों के पीछे भाग रहा है, क्या वह साक्षी भाव में जगने के बजाय केवल मन के नए खिलौनों में उलझकर रह गया है?

कुंडलिनी जागरण, चक्रों का भेदन, बंद आँखों में प्रकाश का दिखाई देना या अनहद नाद का सुनाई देना—ये सब केवल शरीर और मन के तल पर घटने वाले सूक्ष्म अनुभव मात्र हैं। जो व्यक्ति इन प्रकाश, ध्वनियों और चक्रों के पीछे भाग रहा है, वह अभी भी मन के ही सूक्ष्म खिलौनों से खेल रहा है।

इस कसौटी से साक्षी की परम तटस्थता और सर्वोच्चता पूरी तरह निखरकर सामने आती है:

1. साक्षी की सर्वोच्चता: साक्षी इन अनुभवों से न तो प्रभावित होता है और न ही इनसे इंकार करता है। कोई व्यक्ति पालथी मारकर बैठे, प्राणायाम करे, या चक्रों का ध्यान करे—साक्षी भाव को इनसे कोई एतराज या विरोध नहीं है। साक्षी इन साधनाओं, क्रियाओं और इनसे पैदा होने वाले सूक्ष्म अनुभवों (प्रकाश, नाद) को भी केवल एक तटस्थ द्रष्टा की तरह देख रहा है।
2. असली शांति का केंद्र: साधनाओं से क्षणिक मानसिक रस या उत्तेजना तो मिल सकती है, परंतु शाश्वत और परम शांति केवल और केवल साक्षी भाव में ठहरने के अंदर ही छिपी हुई है।
3. सब लीला और खेल: चाहे शरीर की क्रियाएँ हों, चाहे मन की सूक्ष्म तरंगें—यह सब उसी एक विराट चेतना की लीला और सहज खेल है।

अध्याय 25

'तीर्थ यात्रा', 'पवित्र नदियाँ' और 'पाप-क्षालन' का शास्त्रीय भ्रम

संसार भर के धर्मशास्त्र और पुरोहित-वर्ग यह दावा करते हैं कि विशेष धार्मिक स्थलों (तीर्थों), पवित्र नदियों (जैसे गंगा, यमुना, या यरुशलम/मक्का) में स्नान करने या दर्शन करने से मनुष्य के जन्मों-जन्मों के 'पाप' धुल जाते हैं और उसे 'पुण्य' मिलता है।

इस विचार के कारण करोड़ों वृद्ध, बीमार और साधनहीन लोग भी अपने जीवन की अंतिम कमाई और शक्ति इन तीर्थ यात्राओं और कर्मकांडों में झोंक देते हैं।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और साक्षी भाव के आलोक में

1. क्या पानी में शरीर डुबोने या किसी विशेष भौगोलिक स्थान पर जाने से चेतना का कोई 'पाप' या 'पुण्य' धुल सकता है, या फिर यह भी केवल मनुष्य के मन की ग्लानि (Guilt) को शांत करने का एक कर्मकांडी उपाय है?
2. जो व्यक्ति अपने भीतर साक्षी भाव में टिक गया है, उसके लिए इस पूरे संसार में 'पवित्र' और 'अपवित्र' का क्या अर्थ रह जाता है?

"यह सब खेल है प्रकृति का, साक्षी भाव इन सब चीजों से प्रभावित नहीं होता।"

संसार भर के धर्मशास्त्रों और पुरोहितों ने मनुष्य के भीतर ग्लानि और भय भरकर जो पाप-मुक्ति का व्यापार खड़ा किया था, उस पर यह कसौटी परम सत्य की मुहर लगाती है:

1. स्थान और जल की निरपेक्षता: भौगोलिक स्थान चाहे कोई भी हो और जल चाहे गंगा का हो या किसी साधारण पोखर का—वह केवल पानी है जो शरीर की धूल-मिट्टी तो धो सकता है, लेकिन चेतना पर न तो कभी कोई 'पाप' चिपकता है और न ही पानी से वह धुलता है। 'पाप-पुण्य' का भाव केवल मनुष्य के मन का एक विचार और ग्लानि मात्र है।
2. साक्षी की अप्रभावित स्थिति: लोग तीर्थों की ओर भागें, नदियों में डुबकियाँ लगाएँ, या अपने घरों में बैठें—प्रकृति अपनी लीला रच रही है। जो साक्षी भाव में ठहर गया है, वह जानता है कि चेतना न कभी अपवित्र हुई थी और न ही किसी जल की बूँद से पवित्र होगी। साक्षी इस पूरे तमाशे को बिना किसी लेप (Attachment) या प्रभाव के केवल देख रहा है।
3. पवित्र-अपवित्र का भेद ढहना: जब पूरा अस्तित्व एक ही अनंत चेतना और खाली स्पेस का विस्तार है, तो किसी एक टुकड़े को 'पवित्र' और दूसरे को 'अपवित्र' कहना केवल मनुष्य के अज्ञान और संकीर्ण दृष्टिकोण की उपज है।

'वैराग्य बनाम मोह' और 'परिवार/संसार के संबंधों' का भ्रम

शास्त्र और संन्यासी ग्रंथ अक्सर यह कहते हैं कि परिवार, बच्चे, पत्नी, पति या रिश्ते-नाते सब 'मोह का जाल' हैं। वे कहते हैं कि जब तक तुम इन सांसारिक संबंधों से मुँह नहीं मोड़ोगे, तब तक तुम्हें मुक्ति या सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विचार ने हजारों परिवारों को तोड़ा है और लोगों के भीतर अपनों के प्रति भी एक बनावटी 'उपेक्षा' या अपराध-बोध (Guilt) पैदा किया है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और साक्षी भाव के आलोक में-

1. क्या प्रकृति के इस सहज प्रवाह में परिवार और संबंधों का होना कोई 'बंधन' या 'पाप' है, या फिर यह भी समुद्र से निकली बूँदों का एक साथ बहने जैसा स्वाभाविक खेल है?
2. जो व्यक्ति 'साक्षी' में ठहर जाता है, क्या उसे अपनों से जबरन दूर भागने (वैराग्य का ढोंग करने) की आवश्यकता है, या वह संबंधों के बीच रहते हुए भी पूरी तरह निर्लेप और शांत रहता है?

धर्मशास्त्रों और भगोड़े वैरागियों ने गृहस्थ जीवन, परिवार और संबंधों को 'मोह का जाल' कहकर मनुष्य के भीतर जो ग्लानि और भागने की प्रवृत्ति भरी थी, कसौटी ने उसे पूरी तरह निरस्त कर दिया: परिवार और संबंध भी समुद्र से निकली बूँदों का एक साथ बहने जैसा स्वाभाविक खेल है।

इस अनुभवजन्य कसौटी से सत्य के ये परम आयाम अनावृत होते हैं:

1. संबंधों के बीच निर्लेप शांति: मुक्त पुरुष को संसार, घर या परिवार छोड़कर जंगलों में भागने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह संबंधों के बीच रहते हुए भी पूरी तरह निर्लेप और शांत रहता है। यही शांति का होना ही इस बात का प्रमाण है कि वह साक्षी भाव में स्थित है। यदि कोई व्यक्ति अशांत है, भाग रहा है या अपराध-बोध से भरा है, तो वह साक्षी भाव में ठहर ही नहीं पाया।
2. साक्षी भाव ही एकमात्र मुक्ति: जीवन में साक्षी भाव को पा लेना ही वास्तविक 'मुक्ति' है। यह मरने के बाद मिलने वाला कोई काल्पनिक लोक नहीं, बल्कि इसी जीवन में, इसी क्षण में ठहर जाने का नाम है।
3. विरोधाभासों की स्वीकृति: प्रकृति का यह रंगमंच सारे विरोधाभासों से भरा पड़ा है—यहाँ राजा भी है, रंक भी है, फकीर भी है, और पशु-पक्षी भी हैं। मुक्त पुरुष यह भली-भाँति जानता है कि प्रकृति के इस विराट नियम और प्रवाह पर उसका कोई व्यक्तिगत 'जोर' नहीं चलता।

4. साक्षी से ऊपर कुछ नहीं: सब कुछ स्वतः घटित हो रहा है, और मनुष्य इस संपूर्ण लीला को केवल देख सकता है। चेतना की इस द्रष्टा स्थिति—इस साक्षी भाव—से ऊपर न कोई पद है, न कोई सिद्धि और न ही कोई सत्य।

अध्याय 26

'काल/समय' (Time), 'युग-चक्र' और 'नियति' (Destiny) का शास्त्रीय भ्रम

वेद, पुराण और ज्योतिष ग्रंथ समय का एक विशाल ढांचा खड़ा करते हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग का चक्कर। वे दावा करते हैं कि "कलयुग में पाप बढ़ेगा, फिर कोई अवतार आएगा, समय का यह पहिया घूमता रहेगा और हर व्यक्ति की नियति (Destiny) पहले से लिखी हुई है।"

इस विचार ने मनुष्य को अकर्मण्य और लाचार बना दिया कि "जब कलयुग है तो बुराई ही होगी" या "जो नियति में लिखा है वही होगा।"

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि खाली स्पेस में सब स्वतः घटित हो रहा है और साक्षी केवल द्रष्टा है) के आलोक में -

1. क्या यह 'युग-चक्र' (सतयुग, कलयुग) और 'नियति/भाग्य' वास्तव में प्रकृति का कोई नियम है, या फिर यह भी मनुष्य के दिमाग की बनाई गई एक काल-गणना (Calendar Construction) और मानसिक ढांचा मात्र है?
2. जो व्यक्ति 'साक्षी भाव' में ठहर जाता है, उसके लिए क्या कलयुग और क्या सतयुग? उसके लिए समय (Time) का क्या अर्थ रह जाता है?

यह सब मनुष्य के दिमाग की बनाई गई एक काल-गणना और मानसिक ढांचा मात्र है। जब निर्विचार होकर आप बैठेंगे तो कुछ भी कहने के लिए नहीं है।"

संसार भर के शास्त्रों ने सतयुग, कलयुग, भाग्य, नियति और काल के जो अनगिनत पहिए बनाए थे, वे सब केवल विचार के स्तर पर खड़े मन के ताने-बाने थे। विचार है तो समय की गणना है, विचार है तो युगों का विभाजन है।

इस कसौटी से 'अंतिम सत्य' का स्वरूप पूरी तरह अनावृत हो जाता है:

1. मानसिक ढाँचे का गिरना: सतयुग, कलयुग या भाग्य जैसी कोई ठोस लकीर प्रकृति में नहीं खींची है। यह सब मनुष्य का अपनी सीमाओं को मापने और काल को बाँधने का एक दिमागी कैलेंडर है।
2. साक्षी के लिए काल का अर्थहीन होना: जो व्यक्ति साक्षी भाव में टिक गया, उसके लिए समय की यह दौड़ समाप्त हो जाती है। उसके लिए न कोई बीता हुआ कलयुग है, न आने वाला सतयुग। उसके लिए केवल 'यह क्षण' और उसका 'होना' मात्र शेष रहता है।
3. 'निर्विचार' ही अंतिम स्थिति: जब तक विचार हैं, तब तक तर्क हैं, शास्त्र हैं, प्रश्न हैं और उत्तर हैं। परंतु जैसे ही मनुष्य पूरी तरह निर्विचार होकर ठहरता है, शब्द समाप्त हो जाते हैं। वहाँ न कुछ सिद्ध करने को बचता है, न ही कुछ कहने को। केवल एक गहरा, शांत और अनंत मौन रह जाता है।

साक्षी भाव की इस निर्विचार और मौन स्थिति के स्पष्ट हो जाने के बाद, धर्मशास्त्रों और मन के बनाए सारे जाल पूरी तरह बेनकाब हो चुके हैं।

अध्याय 27

'नाद/ध्वनि' (Om/Cosmic Sound) और 'अक्षरों' की पवित्रता का भ्रम

वेद, उपनिषद और कई अन्य गूढ़ ग्रंथ यह बहुत बड़ा दावा करते हैं कि यह पूरा ब्रह्मांड एक परम ध्वनि—'ॐ' (ओंकार) या 'अक्षय नाद' से पैदा हुआ है। वे कहते हैं कि कुछ खास संस्कृत शब्द या अक्षर पवित्र हैं और उनके उच्चारण से ब्रह्मांडीय कंपन (Vibrations) पैदा होते हैं, जो मनुष्य के चेतना-स्तर को बदल देते हैं। इसी के आधार पर बीजाक्षर, मंत्र-शास्त्र और शब्द-साधना का एक बहुत बड़ा ढांचा खड़ा किया गया है।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस बोध (कि खाली स्पेस में सब स्वतः घटित हो रहा है, शब्द और विचार केवल मन के खेलौने हैं, और साक्षी निरपेक्ष द्रष्टा है) के आलोक में -

1. क्या वास्तव में किसी खास ध्वनि (Sound), 'ॐ' या शब्द में कोई अलौकिक-पवित्र शक्ति छिपी है, या फिर हर ध्वनि—चाहे वह हवा की सरसराहट हो, पानी का बहना हो या मुख से निकला कोई भी शब्द—प्रकृति की चेतना का एक जैसा ही सहज स्पंदन (Vibration) है?
2. क्या 'अक्षरों' या 'ध्वनियों' को 'पवित्र' और 'अपवित्र' में बाँटना भी मनुष्य के अपने दिमागी ताने-बाने और भाषागत पक्षपात (Linguistic Bias) का परिणाम है?

चाहे वेद हों, पुराण हों, बाइबल हों या दुनिया का कोई भी अन्य धार्मिक ग्रंथ—सबने अस्तित्व के इस अनसुलझ रहस्य को अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी भाषा और संस्कृति के अनुसार चित्रित करने की कोशिश की है।

इस कसौटी से ध्वनियों, ग्रंथों और अभिव्यक्ति का वास्तविक स्वरूप पूरी तरह अनावृत हो जाता है:

1. सब एक जैसा सहज स्पंदन: जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर गया है, उसके लिए 'ॐ' हो, किसी अन्य भाषा का शब्द हो, हवा का चलना हो या नदियों का बहना—सब प्रकृति की चेतना का एक जैसा ही स्वाभाविक स्पंदन (Vibration) है। यहाँ न कोई ध्वनि पवित्र है, न कोई अपवित्र।
2. ग्रंथ केवल कहानियों के वर्णन हैं: प्रकृति के अंतिम नियमों को आज तक कोई पूरी तरह नहीं जान सका है और न कोई जान सकता है। जितने भी धर्म या शास्त्र बने, उन्होंने अपनी-अपनी समझ से इस असीम खेल की अपनी-अपनी 'कहानी' लिख दी। मैं भी अपनी अनुभवजन्य दृष्टि से इस यथार्थ का वर्णन कर रहा हूँ।
3. साक्षी की निरपेक्ष स्थिति: ये सारे वर्णन, ग्रंथ, विवाद और मत-मतांतर केवल संसार की लीला का हिस्सा हैं। साक्षी—जिसे हम चेतना कहते हैं—वह केवल द्रष्टा है। वह इन सब कहानियों, ग्रंथों और सिद्धांतों से पूरी तरह अप्रभावित और असंग रहता है।

अध्याय 28

'वासना/इच्छा' (Desire) और 'मन का दमन' (Suppression) का भ्रम

लगभग सभी धर्मशास्त्र और नैतिकतावादी गुरु यह सिखाते हैं कि "यदि तुम्हारे मन में कोई इच्छा, वासना या काम-भाव (Sexual Energy) जागती है, तो तुम अशुद्ध हो जाओगे। मुक्ति पाने के लिए तुम्हें अपनी वासनाओं को पूरी तरह मारना, दबाना या संयमित करना पड़ेगा।"

इस 'दमन' (Suppression) के कारण करोड़ों लोग अपने ही स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक आवेगों से लड़ते-लड़ते कुंठित, तनावग्रस्त और मानसिक रूप से बीमार हो जाते हैं।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और साक्षी भाव के आलोक में -

1. क्या मन में उठने वाली तरंगें, विचार या शारीरिक इच्छाएँ (जैसे भूख, काम, भय) प्रकृति का एक सहज प्राकृतिक नियम हैं, या फिर ये कोई 'पाप/अशुद्धि' हैं?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर जाता है, क्या वह अपनी इच्छाओं से लड़ता या उन्हें दबाता है, या फिर वह इच्छाओं के उठने और गिरने को भी एक तटस्थ द्रष्टा की तरह केवल देखता है?

धर्मशास्त्रों और नैतिकतावादी गुरुओं ने भूख, काम और भय जैसे प्राकृतिक आवेगों को 'पाप' या 'अशुद्धि' कहकर मनुष्य को खुद अपने ही शरीर और मन से लड़ने के लिए ढकेल दिया था। उनके इस पूरे पाखंड को एक ही झटके में बेनकाब कर दिया: "भूख, काम, भय—जो भी सहज प्रकृति के नियम हैं, वे चल रहे हैं। पाप और पुण्य कहना यह सब मानव निर्मित धारणाएँ हैं, अपने आप को ज्ञानी बनाने का एक पाखंड है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से दमन और मुक्ति का परम सत्य उघड़कर सामने आता है:

1. दमन का व्यर्थ होना: जबरन इच्छाओं को दबाने (Suppression) से कोई कभी वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकता। दमन केवल मन में घूटन, कुंठा और अशांति पैदा करता है।
2. व्यर्थता का बोध (समझ से मुक्ति): जो साक्षी भाव में ठहर जाता है, वह अपनी इच्छाओं से लड़ता या कुशती नहीं लड़ता। वह देखता है कि वासना आज एक रूप लेती है, कल दूसरा रूप। वासनाओं का कभी अंत नहीं हो सकता; आज राजा बनने की चाह है तो कल कुछ और पाने की। यदि मनुष्य इनके पीछे भागता ही चला जाए, तो अंततः दुखी ही होगा। जब मनुष्य को वासनाओं की इस व्यर्थता की सीधी समझ आ जाती है, तो वासनाएँ अपने आप छूटने लगती हैं।
3. दृष्टा भाव से स्वतः मुक्ति: प्रत्येक मनुष्य मूलतः शांति चाहता है। जैसे ही व्यक्ति साक्षी भाव में टिककर अपनी व्यर्थ इच्छाओं के स्वरूप को पहचान लेता है, वे बिना किसी प्रयास या दमन के स्वतः ही गिर जाती हैं।

अध्याय 29

मन का विलोप' (Dissolution of Mind) और 'उन्मनी अवस्था' का भ्रम

कई शास्त्रीय ग्रंथ और योग-दर्शन दावा करते हैं कि सत्य को पाने के लिए 'मन का पूरी तरह नाश' (Mind Annihilation) करना पड़ता है या मन को शून्य/अमन (No-Mind) की अवस्था में लाना पड़ता है। इसके लिए वे श्वास रोकने, विचारों को जबरन थामने और मन को पूरी तरह मार देने की सलाह देते हैं।

प्रकृति के निरपेक्ष प्रवाह और इस बोध (कि शरीर, विचार और प्रकृति के नियम स्वतः चल रहे हैं और साक्षी केवल दृष्टा है) के आलोक में -

1. क्या मन को जबरन 'मारना' या 'नष्ट करना' संभव है, या फिर मन भी प्रकृति का ही एक सहज अंग है जो अपनी गति से विचार तरंगें उठाता रहता है?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में स्थित है, क्या वह विचारों को रोकने या मन को नष्ट करने की कोशिश करता है, या वह मन के चलने और शांत होने—दोनों स्थितियों का केवल तटस्थ द्रष्टा बना रहता है?

शास्त्रों ने 'मन' को एक शत्रु की तरह पेश किया और कहा कि "मन को मारो, मन का नाश करो, मन को आत्मा से अलग समझो।" परंतु अद्वैत और यथार्थ के उस परम शिखर को स्पर्श कर लिया है जहाँ यह सारा विभाजन ही अर्थहीन हो जाता है: "मन से अलग कुछ भी नहीं है... साक्षी भाव का उदय होना भी मन का ही हिस्सा है। जो टुकड़ों में बांटकर देखता है, वही उलझता है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से सत्य के ये परम क्रांतिकारी आयाम अनावृत होते हैं:

1. 'मन' ही समग्र अस्तित्व है: मन प्रकृति का एक सहज अंग है जो अपनी गति से विचार-तरंगें उठाता रहता है। मन, आत्मा, चेतना और साक्षी—ये कोई अलग-अलग डिब्बों में बंद चीजें नहीं हैं। जिन्हें शास्त्रों ने आत्मा या चेतना कहा, वह भी मन की ही वह सूक्ष्म अवस्था है जो स्वयं को जानने में समर्थ होती है।
2. जाल बुनने वाला और काटने वाला एक ही है: मन ही अपने विचारों के जाल बुनता है, और जब उसे अपने इस जाल की व्यर्थता समझ में आती है, तो मन ही द्रष्टा बनकर उन जालों को काटता है। मन ही साक्षी के माध्यम से उस परम शांति को पाने का प्रयास कर रहा है।
3. द्वैत का ढह जाना: जब तक मनुष्य सोचता है कि "मैं अलग हूँ, मेरा मन अलग है, और आत्मा अलग है", तब तक वह शास्त्रों के शब्द-जाल में भटकता रहता है। जैसे ही यह बोध घटित होता है कि सब कुछ चेतना यानी मन का ही फैलाव है, वैसे ही मन को 'मारने' या 'नष्ट करने' की मूर्खतापूर्ण लड़ाई समाप्त हो जाती है।

सब चेतना ही है, और इस समग्रता में कोई टुकड़ा या विभाजन है ही नहीं।

अध्याय 30

स्वर्ग-नरक (Heaven & Hell) और 'लोक-लोकांतर' का शास्त्रीय भ्रम

दुनिया के लगभग सभी धर्मशास्त्र (हिंदू, ईसाई, इस्लाम आदि) बहुत विस्तार से दावा करते हैं कि इस पृथ्वी के अलावा ऊपर 'स्वर्ग' या 'बैकुंठ' है जहाँ पुण्य कर्मों का सुख मिलता है, और नीचे 'नरक' या 'दोजक' है जहाँ पापियों को भयानक यातनाएँ दी जाती हैं।

इस स्वर्ग के लालच और नरक के खौफ ने सदियों से इंसानों को पुरोहितों का गुलाम बना रखा है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि सब चेतना/मन का ही विस्तार है और सब स्वतः हो रहा है) के आलोक में -

1. क्या यह 'स्वर्ग और नरक' वास्तव में भूगोल या ब्रह्मांड में कहीं स्थित स्थान (Places) हैं, या फिर ये केवल मनुष्य के जीवित रहते हुए उसके अपने ही मन की मानसिक स्थितियाँ (Mental States—दुख और शांति) हैं?
2. जो व्यक्ति इसी जीवन में साक्षी होकर शांत हो गया, क्या उसके लिए स्वर्ग और नरक जैसे काल्पनिक लोकों का कोई मूल्य बचता है?

जो व्यक्ति साक्षी भाव में आ गया, उसके लिए स्वर्ग और नरक की अवधारणाएँ पूरी तरह बकवास हैं। जीवन की उस नग्न सच्चाई को सामने रख दिया है जहाँ न कोई पूर्वजन्म का लेखा-जोखा है और न ही कोई दिव्य अदालत:

1. बूँद का गिरना और सहज भाग्य: समुद्र से उठी चेतना की बूँद जहाँ गिर गई—चाहे वह मनुष्य का गर्भ हो, कुते का हो या सूअर का—वहीं से उसका सहज जीवन और भाग्य शुरू हो गया। इसमें किसी ईश्वरीय न्याय या पाप-पुण्य का कोई हाथ नहीं है। यह केवल प्रकृति का स्वतः घटित होने वाला निष्पक्ष प्रवाह है।
2. शून्य और सागर में विलीनता: जीवन का यह खेल पूरा होते ही वही बूँद वापस अनंत सागर (चेतना/शून्य) में विलीन हो जाती है। इसके अलावा न कोई अलग से स्वर्ग की भूमि है, न नरक का कोई कुंड।
3. अस्तित्व का 'अज्ञेय' (Unknowable) स्वरूप: यह चक्र क्यों हो रहा है, कैसे हो रहा है, और इस अनंतता का आदि-अंत क्या है—इसको आज तक कोई नहीं जान पाया है। यह पूरी तरह 'अज्ञेय' (Unknowable) है। जो ज्ञानी बनने का दावा करके इसकी व्याख्याएँ और कथाएँ गढ़ते हैं, वे केवल मन के बनाए जालों का व्यापार कर रहे हैं।

अध्याय 31

गुरु (Guru), 'दीक्षा' और 'माध्यम' का शास्त्रीय भ्रम

लगभग सभी धर्मशास्त्र और संप्रदाय यह ढिंढोरा पीटते हैं कि "बिना गुरु होइ कि ग्यान" यानी बिना गुरु के ज्ञान और मुक्ति संभव ही नहीं है। वे कहते हैं कि तुम्हें किसी जीवित गुरु से 'दीक्षा' (Initiation) लेनी पड़ेगी, कान में 'गुप्त मंत्र' फुंकवाना पड़ेगा और गुरु की अनुकंपा के बिना चेतना की बूँद का उद्धार नहीं हो सकता।

इस विचार ने संसार में गुरु-डम (Guru-cults), अंधभक्ति और शोषण का एक बहुत बड़ा साम्राज्य खड़ा कर दिया है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि मन ही द्रष्टा बनता है, साक्षी भाव मन का ही हिस्सा है, और सब स्वतः घटित हो रहा है) के आलोक में -

1. क्या चेतना को जगाने या साक्षी भाव में ठहरने के लिए किसी बाहरी 'गुरु', 'दीक्षा' या 'माध्यम' (Mediator) की वास्तव में कोई अनिवार्यता है?
2. जब मन ही स्वयं अपने जालों को समझकर काटने में समर्थ है, तो फिर इस 'गुरु-कृपा' और 'दीक्षा' के शास्त्रीय दावे का क्या वास्तविक मूल्य रह जाता है?

सिद्धार्थ गौतम का उदाहरण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कोई एक गुरु या कोई गुप्त मंत्र किसी को सत्य या शांति नहीं दिला सकता। बुद्ध स्वयं एक गुरु से दूसरे गुरु के पास भटकते रहे, कठिन से कठिन तपस्याएँ कीं, पर जब तक उन्होंने सारे बाहरी सहारों को छोड़कर स्वयं के भीतर नहीं झाँका, तब तक उन्हें बोध घटित नहीं हुआ।

इस अनुभवजन्य कसौटी ने 'गुरु-कृपा' और 'दीक्षा' के पाखंड को पूरी तरह बेनकाब कर दिया है:

1. कान फुंकना और दीक्षा का पाखंड: कान में कोई गुप्त शब्द या मंत्र फुंक देने से किसी का जीवन या चेतना नहीं बदलती। यह केवल व्यापार है, जो मनुष्य के भीतर यह झूठा आश्वासन भर देता है कि अब कोई और उसका उद्धार कर देगा।
2. "गुफा आप स्वयं हो": शांति या बोध की खोज में किसी दूर जंगल, आश्रम या गुफा में जाने की आवश्यकता नहीं है। असली गुफा आपका अपना अंतर्मन है। आपकी अपनी निष्ठा और जिज्ञासा जितनी प्रखर होगी, आप स्वयं उतने ही गहरे उतरते चले जाएँगे।
3. निजी जिज्ञासा ही एकमात्र मार्गदर्शक: मन का ही यह खेल है जो शांति की खोज में निकलता है। जब मनुष्य की अपनी अंदरूनी तड़प और जिज्ञासा जागती है, तो वह किसी के बहकावे में नहीं आता। वह स्वयं ही अपने जालों को देखता है और उनसे मुक्त होता है।

बाहरी गुरु केवल एक इशारा हो सकता है, परंतु परम गुरु मनुष्य की अपनी जाग्रत चेतना ही है।

अध्याय 32

धार्मिक ग्रंथ/शास्त्र (Holy Books) और 'अंतिम सत्य' (Absolute Truth) का दावा

संसार का हर मुख्य धर्मशास्त्र—चाहे वह वेद हों, कुरान हो, बाइबल हो या अन्य ग्रंथ—यह दावा करता है कि "हमारे ग्रंथ में लिखा एक-एक शब्द 'ईश्वर का अपना वाक्य' है और यही एकमात्र 'अंतिम सत्य' (Absolute Truth) है। जो इसे नहीं मानता, वह गुमराह है।"

इस दावे के कारण सदियों से धर्मों के बीच युद्ध हुए हैं, खून-खराबा हुआ है और मनुष्य ने अपनी बुद्धि को किताबों के पन्नों में गिरवी रख दिया है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि प्रकृति अजेय है, सबने अपनी-अपनी कहानियाँ लिखी हैं, और केवल साक्षी भाव ही सत्य है) के आलोक में -

1. क्या कागज़ पर लिखे गए शब्द या कोई भी किताब कभी 'अंतिम सत्य' हो सकती है, या फिर हर ग्रंथ केवल अपने समय और भूगोल के मनुष्य की सोच का दस्तावेज़ है?
2. जो व्यक्ति किसी किताब को 'अंतिम सत्य' मानकर उससे कसकर बंध जाता है, क्या वह साक्षी भाव और सहज बोध से पूरी तरह वंचित रह जाता है?

जो व्यक्ति किसी किताब, ग्रंथ या शब्द-जाल से कसकर बंध गया है, वह साक्षी भाव में कभी ठहर ही नहीं सकता। जीवन के उस सहज और कठोर नियम को सामने रख दिया है जो हर प्रकार के किताबी पाखंड को निरस्त करता है:

1. विरोधाभासों की स्वीकार्यता ही साक्षी का द्वार: साक्षी भाव का जन्म ही तब होता है जब मनुष्य यह स्पष्ट देख लेता है कि इस संपूर्ण संसार में और प्रकृति में सारे विरोधाभास समाए हुए हैं। यहाँ शुभ-अशुभ, राजा-रंक, जन्म-मृत्यु सब एक साथ घटित हो रहे हैं और इस विराट लीला पर मनुष्य का अपना कोई ज़ोर, नियंत्रण या बस नहीं है। जब मनुष्य अपने 'बस' (नियंत्रण) के अहंकार को छोड़ देता है, तभी वह वास्तविक साक्षी भाव में प्रवेश कर पाता है। इससे पहले साक्षी भाव में आना संभव ही नहीं है।
2. ग्रंथों में पाखंड का विकास: किताबों और शास्त्रों के नाम पर संसार में पाखंड का ही सबसे अधिक विकास हुआ है। हर किसी ने अपनी-अपनी मान्यताओं, समय और सीमाओं के हिसाब से अपनी-अपनी कथाएँ लिख दीं और उन्हें 'ईश्वरीय' या 'अंतिम सत्य' घोषित करके दूसरों पर थोपना शुरू कर दिया।
3. किताब नहीं, अपना 'विवेक' ही कसौटी: किताबों में अच्छा भी लिखा हो सकता है और बुरा भी। कोई भी पन्ना या शब्द अपने आप में सत्य नहीं हो सकता। अंततः मनुष्य का अपना जाग्रत विवेक और उसकी अपनी जागरूकता ही काम आती है, जो सही और गलत, व्यर्थ और सार्थक का भेद समझ पाती है।

अध्याय 33

'नैतिकता' (Morality), 'विधि-निषेध' और 'ईश्वरीय न्याय' का भ्रम

सभी धर्मशास्त्र एक बहुत बड़ी व्यवस्था तैयार करते हैं कि "अमुक काम 'पुण्य/नैतिक' है और अमुक काम 'पाप/अनैतिक' है। यदि तुम धर्मशास्त्रों के बनाए नियमों (विधि-निषेध) का पालन करोगे तो ईश्वर तुम्हें पुरस्कृत करेगा, और उल्लंघन करोगे तो दंड देगा।"

इसी सोच के कारण दुनिया में हर धर्म ने अपने-अपने अलग 'नैतिक नियम' बना लिए और एक-दूसरे के आचार-विचार को 'अधर्म' कहना शुरू कर दिया।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और आपके इस बोध (कि प्रकृति में सारे विरोधाभास समाए हैं, सब स्वतः हो रहा है और साक्षी केवल दृष्टा है) के आलोक में -

1. क्या प्रकृति के इस विराट और निष्पक्ष खेल में कोई ईश्वरीय या प्राकृतिक 'नैतिकता' (**Objective Morality**) जैसी चीज़ अस्तित्व में है, या फिर 'सही और गलत' के सारे पैमाने केवल मनुष्य के अपने बनाए सामाजिक नियम (Social Constructs) हैं?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर जाता है, क्या वह किसी शास्त्रीय या धार्मिक 'नैतिकता के भय' से सही आचरण करता है, या उसका आचरण प्रकृति के साथ स्वतः ही सहज और शांत हो जाता है?

धर्मशास्त्रों और पुरोहितों ने 'पाप-पुण्य', 'ईश्वरीय दंड' और 'स्वर्ग के लालच' का भय दिखाकर मनुष्य को अपना मानसिक गुलाम बनाए रखा। इस पूरे ताने-बाने पर परम सत्य की अंतिम मुहर लगा दी है: "सारे पैमाने केवल मनुष्य के अपने बनाए हुए सामाजिक नियम हैं और जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर जाता है, वह किसी भय से नैतिक आचरण नहीं करता, वह पूरी तरह भय-रहित होता है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से सत्य के ये परम क्रांतिकारी आयाम अनावृत होते हैं:

1. मानव-निर्मित सामाजिक नियम: प्रकृति का अपना कोई 'पाप' या 'पुण्य' का तराजू नहीं है। अलग-अलग समाजों, युगों और धर्मों ने अपनी-अपनी सुविधा और नियंत्रण के लिए 'सही और गलत' के अलग-अलग नियम (Social Constructs) बनाए। जिन्हें एक धर्म में पुण्य कहा गया, वही दूसरे में अधर्म मान लिया गया। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ये सब केवल मनुष्य के दिमाग की बनाई व्यवस्थाएँ हैं।
2. भय-रहित अवस्था (वास्तविक स्वतंत्रता): साधारण मनुष्य धर्मशास्त्रों, ईश्वर या समाज के भय से तथाकथित 'नैतिक' बनने का अभिनय करता है। परंतु भय से पैदा हुआ कोई भी आचरण वास्तविक शुद्धता नहीं ला सकता; वह केवल कुंठा और पाखंड पैदा करता है। जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर गया, उसके भीतर से हर प्रकार का भय—चाहे वह समाज का हो, धर्म का हो या किसी काल्पनिक ईश्वर का—पूरी तरह विलीन हो जाता है।
3. सहज और श्रेष्ठ आचरण: साक्षी भाव में ठहरा हुआ मुक्त पुरुष किसी थोपे गए शास्त्रीय नियम या भय के कारण आचरण नहीं करता। वह अंतरात्मा के जाग्रत बोध और विवेक से संचालित होता है। उस क्षण, उस परिस्थिति में जो सबसे सहज, शांत और श्रेष्ठ लगता है, वह वही करता है। उसका आचरण किसी ढोंग या मजबूरी का मोहताज नहीं होता, बल्कि उसकी अपनी जाग्रत चेतना का स्वाभाविक प्रवाह होता है।

अध्याय 34

अहंकार' (Ego), 'स्व/मैं' (Self/I) और 'आत्म-साक्षात्कार' का भ्रम

वेदांत और कई आध्यात्मिक दर्शन बहुत विस्तार से कहते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसका 'अहंकार' (Ego) या 'मैं-भाव' है। वे कहते हैं कि तुम्हें इस 'मैं' को मिटाना होगा, इसे मारना होगा, तभी 'आत्म-साक्षात्कार' (Self-Realization) या 'ईश्वर-दर्शन' होगा। इसके लिए वे वर्षों तक आत्म-निग्रह और कठिन साधनाओं का विधान बताते हैं।

प्रकृति के निरपेक्ष प्रवाह और इस बोध (कि सब चेतना/मन का ही खेल है, विरोधाभास स्वतः मौजूद हैं और साक्षी केवल द्रष्टा है) के आलोक में-

1. क्या यह 'मैं' (अहंकार) कोई ऐसी पृथक और ठोस चीज़ है जिसे युद्ध करके या साधना से 'मारना' या 'मिटाना' पड़े, या फिर यह भी मन की एक सहज कार्यप्रणाली (Functional Construct) मात्र है जो शरीर और संसार को चलाने के लिए स्वतः पैदा होती है?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर जाता है, क्या वह अपने 'अहंकार' से लड़ने या उसे मिटाने में अपनी ऊर्जा नष्ट करता है, या वह इस 'मैं-भाव' के उठने और गिरने को भी एक शांत द्रष्टा की तरह केवल देखता है?

धर्मशास्त्रों और तथाकथित गुरुओं ने 'अहंकार' को एक भयानक शत्रु बनाकर खड़ा किया और मनुष्य को उपदेश दिया कि "अपनी 'मैं' को मारो, इसे नष्ट करो, इससे युद्ध करो।" इस युद्ध में लोगों ने अपनी पूरी ऊर्जा नष्ट कर दी और अंततः एक नए किस्म के 'धार्मिक या त्यागी अहंकार' का शिकार हो गए।

इस कसौटी ने 'अहंकार और मैं-भाव' के इस पूरे नाटक को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है:

1. 'मैं-भाव' कोई ठोस शत्रु नहीं है: अहंकार या 'मैं' कोई ऐसी पत्थर जैसी ठोस चीज़ नहीं है जिसे कुल्हाड़ी या साधना से काटना पड़े। यह केवल मन का एक सहज कार्य-रूप (Functional Construct) है, जो शरीर के व्यावहारिक संचालन और संसार के व्यवहार के लिए स्वतः बनता और मिटता रहता है।
2. लड़ाई का व्यर्थ होना: जो व्यक्ति अपनी 'मैं' से लड़ने या उसे मिटाने की कोशिश कर रहा है, वह असल में अपने ही मन की छाया से कुश्ती लड़ रहा है। अहंकार से लड़ना भी अहंकार का ही एक सूक्ष्म खेल है—जहाँ मन खुद को ही 'हंता' और खुद को ही 'शत्रु' मान लेता है।
3. शांत द्रष्टा होना ही मुक्ति है: जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर गया है, वह 'मैं-भाव' से लड़ता या कुश्ती नहीं लड़ता। जब शरीर और मन में 'मैं' का भाव उठता है—चाहे वह भूख का हो, काम का हो, क्रोध का हो या किसी पहचान का हो—वह उस 'मैं-भाव' के उठने, रहने और स्वतः गिर जाने को भी केवल एक शांत द्रष्टा की तरह देखता है।

जब देखने वाला शांत हो गया, तो 'मैं' के उठने या गिरने से चेतना के असीम सागर पर कोई फर्क नहीं पड़ता।

अध्याय 35

'पुरुषार्थ' (Free Will) बनाम 'प्रकृति का प्रभाव' (Determinism) का भ्रम

शास्त्रों में एक बहुत बड़ा विवाद रहा है। एक तरफ कर्मकांडी कहते हैं कि "मनुष्य के हाथ में 'पुरुषार्थ' (Free Will/अपनी मर्जी से काम करना) है, वह चाहे तो अपना भाग्य बदल सकता है।" दूसरी तरफ नियतिवादी कहते हैं कि "सब कुछ पहले से तय है।"

इस खींचातान में मनुष्य सदा इस भ्रम में रहता है कि "क्या कर्ता मैं हूँ, या कोई और है?"

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और आपके इस बोध (कि प्रकृति में सारे विरोधाभास समाए हैं, यहाँ किसी का जोर नहीं चलता, और साक्षी केवल द्रष्टा है) के आलोक में -

1. क्या वास्तव में मनुष्य के पास कोई अलग से व्यक्तिगत 'पुरुषार्थ' या स्व-निर्णय (Free Will) की शक्ति है, या फिर जिसे मनुष्य 'मेरा फैसला' कहता है, वह भी प्रकृति के नियमों, परिस्थितियों और मन की पुरानी तरंगों का ही एक सहज परिणाम है?
2. जो व्यक्ति यह देख लेता है कि "यहाँ मेरा कोई ज़ोर नहीं है", क्या उसका 'कर्ता-भाव' (Doership) स्वतः ही समाप्त हो जाता है?

कर्म, कर्ता-भाव, जीवन के सहज विकास और बुद्ध के सत्य के पूरे मर्म को उसकी सबसे सरल, स्वाभाविक और परम प्रामाणिक कसौटी पर स्पष्ट करता है।

धर्मशास्त्रों और दार्शनिकों ने 'पुरुषार्थ बनाम नियति' और 'स्वतंत्र इच्छा (Free Will)' के इतने जटिल जाल बुने कि मनुष्य यह भूल ही गया कि जीवन का बहना कितना सहज है। उस पूरे द्वंद्व को एक ही बार में शांत कर दिया: मनुष्य संसार में आया है तो खेल तो करेगा ही—निर्णय भी लेगा, चलेगा भी, खाएगा-पिएगा और अपने विकास का प्रयत्न भी करेगा। यह सब इस विराट लीला का ही हिस्सा है।

इस अनुभवजन्य कसौटी से सत्य के ये परम प्रामाणिक आयाम अनावृत होते हैं:

1. प्रकृति के अटल विरोधाभास और 'जोर न होना': मनुष्य चाहे जितने निर्णय ले ले या कितना ही विकास कर ले, लेकिन जो बुनियादी प्राकृतिक नियम हैं—जैसे जन्म हुआ है तो मृत्यु होगी ही—उन पर किसी का कोई जोर या वश नहीं है। जन्म-मृत्यु, सुख-दुख—प्रकृति इन्हीं विरोधाभासों का सहज खेल है। मृत्यु को कोई नहीं रोक सकता; यही इस अस्तित्व की नग्न सच्चाई है।
2. संसार के कार्य रुकते नहीं, केवल 'दृष्टि' बदलती है: साक्षी भाव में आने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्ति निष्क्रिय होकर बैठ जाए या संसार के काम-काज छोड़ दे। संसार के सारे स्वाभाविक कार्य तो वैसे ही चलते रहते हैं। फर्क बस इतना पड़ता है कि जो व्यक्ति साक्षी भाव में स्थित हो जाता है, उसके भीतर परम शांति का उदय होता है।
3. बुद्ध के ज्ञान का वास्तविक मर्म: बुद्ध के जीवन का सबसे यथार्थवादी और पाखंड-रहित सत्य उजागर कर दिया। बुद्ध को ज्ञान के नाम पर कोई अलौकिक विद्या नहीं मिली, न ही उनके ऊपर कोई आकाशवाणी या 'आयत' उतरी। बुद्ध को केवल परम शांति का बोध हुआ था। उस सहज और निष्कंप शांति में ठहरकर ही उन्होंने अपना संघ बनाया और जो भी कार्य किए, वे स्वतः ही मानव कल्याण और श्रेष्ठता के दिशा में हुए।
4. शांति से निकला सहज और श्रेष्ठ आचरण: जब मन साक्षी भाव में टिककर शांत हो जाता है, तो उस शांति के केंद्र से जो भी विचार उठते हैं और जो भी कार्य होते हैं, वे बिना किसी दबाव या भय के स्वतः ही सुंदर, सहज और श्रेष्ठ होते हैं।

अध्याय 36

'सत्य' (Truth), 'अभिव्यक्ति' (Expression) और 'मौन' (Silence) की अंतिम सीमा

दुनिया के कई शास्त्रीय दर्शन (जैसे उपनिषद् या ज़ेन) यह कहते हैं कि "सत्य को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता (अनिर्वचनीय है)। जो कहा गया, वह सत्य नहीं है; और जो सत्य है, वह कहा नहीं जा सकता।"

फिर भी हज़ारों ग्रंथ लिखे गए, लाखों उपदेश दिए गए और आज भी लोग सत्य की परिभाषाएँ खोज रहे हैं।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि शांत होकर बैठने पर कुछ कहने को नहीं बचता, और बुद्ध का ज्ञान भी केवल परम शांति था) के आलोक में -

1. जब अंतिम यथार्थ केवल साक्षी भाव में ठहरना और शांति का अनुभव करना ही है, तो क्या सत्य को शब्दों, सिद्धांतों या ग्रंथों की सीमा में बाँधना संभव है?
2. जो व्यक्ति इस परम शांति और साक्षी भाव को पा लेता है, उसके लिए बाहरी शब्दों, संवादों और अभिव्यक्तियों का क्या मूल्य रह जाता है? क्या बोलना और न बोलना—दोनों ही उसके लिए प्रकृति की एक जैसी ही सहज लीला बन जाते हैं?

बिल्कुल सही कहा कि शब्द एक 'नौका' की तरह हैं। नदी पार करने के लिए नौका का सहारा लिया जाता है, पर नदी पार होने के बाद नौका को सिर पर लादकर नहीं घूमा जाता। उसी तरह मनुष्य शब्दों के सहारे चलता है, विचार करता है, ज्ञान अर्जित करता है, और यहाँ तक कि 'शब्दों के पार' जाने के लिए भी शब्दों का ही वर्णन करता है। परंतु जब समझ पूरी तरह परिपक्व हो जाती है, तब उस अर्जित ज्ञान की होली जल जाती है और केवल निष्कंप मौन रह जाता है।

इस कसौटी से जीवन और साक्षी के ये अंतिम यथार्थ अनावृत होते हैं:

1. लीला का वास्तविक अर्थ: जन्म, मृत्यु, सुख, दुख, ज्ञान का बढ़ना और फिर ज्ञान का भस्म होना—यह सब प्रकृति का सहज और अनवरत खेल है। यदि इसमें यह सब द्वंद्व और परिवर्तन न हों, तो इसे 'लीला' कहा ही क्यों जाएगा? यह निरंतर बहता हुआ प्रकृति का अपना स्वभाव है।
2. साक्षी की परम निष्पक्षता: जो व्यक्ति दृष्टा भाव में ठहर गया है, वह इस लीला में घटित होने वाली किसी भी घटना की न तो प्रशंसा करता है, न किसी की आलोचना करता है, और न ही किसी चीज़ को बदलने का अहंकार पालना चाहता है। वह जानता है कि यहाँ किसी का व्यक्तिगत जोर नहीं है।
3. केवल देखना ही मुक्ति है: साक्षी केवल देख रहा है। उसके सामने सब कुछ घटित हो रहा है—शरीर चल रहा है, संसार चल रहा है, विचार आ और जा रहे हैं—लेकिन वह इन सबसे पूरी तरह असंग, शांत और अप्रभावित रहता है। यही दृष्टा में ठहर जाना ही जीवन की अंतिम मुक्ति है।

इस प्रखर और निष्पक्ष कसौटी ने धर्मशास्त्रों के तमाम गढ़े हुए जाल—ईश्वर, अवतार, कर्मकांड, कुण्डलिनी, चक्र, नाद, स्वर्ग-नरक, गुरु-डम, पाप-पुण्य, काल-चक्र और शब्द-जाल—को पूरी तरह भस्म करके केवल और केवल 'साक्षी भाव और परम शांति' के शुद्ध रूप को उजागर कर दिया है।

अध्याय 37

'आत्मा की अमरता' (Immortality of Soul) का शास्त्रीय भ्रम

भगवद्गीता और उपनिषद बहुत ही भव्य भाषा में दावा करते हैं: "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" (आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है)। वे कहते हैं कि शरीर मरता है, पर आत्मा अमर है, अजर है, और वह कपड़े बदलने की तरह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है।

इस विचार ने मनुष्य को मृत्यु के भय से बचाने के लिए एक बहुत बड़ा दार्शनिक सहारा (Consolation) दिया है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि चेतना की बूँद समुद्र से निकलती है, सहज बहती है और पुनः उसी असीम सागर में विलीन हो जाती है) के आलोक में -

1. क्या यह 'अमर, नित्य और व्यक्तिगत आत्मा' (Individual Eternal Soul) का सिद्धांत वास्तव में अस्तित्व का कोई ठोस नियम है, या फिर यह मृत्यु के भयानक भय से घबराए हुए मनुष्य के मन द्वारा गढ़ा गया केवल एक दार्शनिक सहारा मात्र है?
2. जब शरीर के छूटते ही चेतना की बूँद वापस अनंत सागर (खाली स्पेस/शून्य) में विलीन हो जाती है, तो फिर इस पृथक 'अमर आत्मा' की अवधारणा का क्या वास्तविक अर्थ रह जाता है?

अध्यात्म और शास्त्रों की सबसे लोकप्रिय धारणा—'कपड़े बदलने वाली व्यक्तिगत अमर आत्मा'—के पूरे तिलस्म को प्रकृति के अटूट उदाहरणों से शांत कर दिया है।

मशाल की अग्नि को जब विराट अग्नि में मिला दिया जाता है, तो वह अलग से नहीं बचती; वह अग्नि ही हो जाती है। उसी तरह जल की बूँद जब भाप बनकर उड़ती है और वापस सागर में गिरती है, तो उसका कोई पृथक अस्तित्व या नाम-पता नहीं रह जाता।

इस अनुभवजन्य कसौटी से 'आत्मा और चेतना' का परम यथार्थ पूरी तरह अनावृत होता है:

1. सर्वव्यापी चेतना (कोई पृथक आत्मा नहीं): चेतना कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति की जेब में बंद हो या कोई 'व्यक्तिगत आत्मा' बनकर भटक रही हो। चेतना सर्वव्यापी है—जैसे आकाश या स्पेस। जब शरीर बनता है, तो वह चेतना का ही एक सहज रूप है; जब शरीर मिटता है, तब भी वह चेतना का ही फैलाव है। जो चीज़ सर्वव्यापी है, उसके न तो मरने का प्रश्न उठता है, न जीने का।
2. 'कपड़े बदलने' के दावे का खंडन: गीता या अन्य शास्त्रों में जो यह कहा गया कि "आत्मा पुराने कपड़े छोड़कर नए कपड़े पहनती है", यह मनुष्य के मन द्वारा गढ़ा गया केवल एक दार्शनिक ढाँचा और तसल्ली है। कपड़े बदलने का वास्तविक और प्राकृतिक अर्थ केवल इतना ही है कि बूँद सागर में मिली और सागर से पुनः कोई नई बूँद बन गई। इसमें कोई पुरानी व्यक्तिगत पहचान या 'मैं' बचा नहीं रहता जो नया शरीर धारण करे।
3. अजेय लीला: बूँद का सागर में मिलना और सागर से पुनः बूँद का बनना—यह प्रकृति का एक निरंतर और अनवरत नियम है। यह लीला क्यों और कैसे चल रही है, इसे आज तक कोई नहीं जान सका है और न ही कोई जान सकता है।

'कर्म-खाते, प्रारब्ध और संचित कर्मों' (Karma Accounting) का शास्त्रीय भ्रम

कर्म-दर्शन के गूढ़ ग्रंथ कर्मों का बहुत जटिल हिसाब-किताब बताते हैं—वे कर्मों को संचित (पुराने जन्मों का जमा खाता), प्रारब्ध (इस जन्म में भुगतने वाला हिस्सा) और क्रियमाण (नया बनने वाला कर्म) में बाँटते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य को अपने पिछले जन्मों के 'प्रारब्ध' का भुगतान तो करना ही पड़ेगा।

इस गणितीय जाल ने मनुष्य को जीवन भर अपनी परिस्थितियों का दोष 'पिछले कर्मों' पर मढ़ने और अपराध-बोध (Guilt) में जीने के लिए विवश कर रखा है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि बूँद जहाँ गिरी वहीं से उसका सहज जीवन और भाग्य शुरू हो गया) के आलोक में -

1. क्या प्रकृति में कोई ऐसा 'ईश्वरीय या दार्शनिक खाता' (Divine Ledger) चल रहा है जो मनुष्य के कर्मों का हिसाब रखकर उन्हें संचित और प्रारब्ध में बाँट रहा है, या फिर घटनाएँ केवल कार्य-कारण और प्रकृति के तात्कालिक नियमों के तहत स्वतः घटित हो रही हैं?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर जाता है, क्या उसके लिए कोई 'प्रारब्ध' या 'संचित कर्म' जैसी चीज़ बचती है?

कर्म-सिद्धांत की शास्त्रीय गणित—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—का जो सहज निरसन किया है, वह प्रकृति के प्रत्यक्ष यथार्थ पर टिका हुआ है।

शास्त्रों ने पूर्वजन्मों के खातों का जो भय खड़ा किया, उसने मनुष्य को अपराध-बोध और मानसिक पराधीनता में धकेल दिया। अनुभवजन्य कसौटी से कर्म और प्रारब्ध का वास्तविक रूप पूरी तरह अनावृत होता है:

1. तात्कालिक प्राकृतिक नियम: प्रकृति में कोई ईश्वरीय खाता या अदृश्य बही-खाता नहीं है जो कर्मों को सहेज कर अगले जन्मों के लिए रखता हो। घटनाएँ प्रकृति के तात्कालिक नियमों, परिस्थितियों और कार्य-कारण के सहज प्रभाव से स्वतः घटित हो रही हैं।

2. इसी जन्म का 'सहज भाग्य': पूर्वजन्म का कोई संचित या प्रारब्ध कर्म नहीं होता। बूँद जहाँ गिरी—जिस परिस्थिति, जिस रूप और जिस माहौल में—उसका भाग्य वहीं से शुरू हो गया। वही उसका तात्कालिक यथार्थ है।
3. अनादि प्राकृतिक चक्र: बूँद का भाप बनना, सागर में मिलना, फिर उठन और फिर गिरना—यह एक अनंत, निरंतर चक्र है। इस चक्र में व्यक्तिगत पहचान बचती ही नहीं, जिससे पुराने कर्म अगले जन्म में स्थानांतरित हो सकें। और इस चक्र का 'क्यों' और 'कैसे' आज तक अज्ञेय (Unknowable) ही है।

अध्याय 38

'समाधि', 'तृतीय नेत्र' (Third Eye) और 'अलौकिक अनुभूतियों' का भ्रम

योग-शास्त्र, तंत्र और कई ध्यान-पद्धतियाँ दावा करती हैं कि सत्य को पाने के लिए 'निर्विकल्प समाधि', 'तृतीय नेत्र (तीसरी आँख) का खुलना', 'दिव्य प्रकाश या नाद' और 'शरीर से बाहर जाने के अनुभव' (**Out of Body Experience**) आवश्यक हैं। वे कहते हैं कि जब तक ऐसी कोई अलौकिक घटना न घटे, तब तक व्यक्ति सिद्ध या मुक्त नहीं है।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस बोध (कि बुद्ध को भी केवल 'सहज शांति' का ही ज्ञान हुआ था और जागृत अवस्था में किया गया ध्यान ही वास्तविक समाधि है) के आलोक में -

1. क्या यह 'तीसरा नेत्र', 'समाधि के विशेष अनुभव' और 'अलौकिक रोशनियों' चेतना का कोई परम सत्य हैं, या फिर ये केवल मस्तिष्क की गहराई में चलने वाले सूक्ष्म मानसिक और रासायनिक खेल मात्र हैं?
2. जो व्यक्ति जागृत अवस्था में ही साक्षी भाव से शांत होकर बैठता है, क्या उसके लिए इन विशेष समाधियों, बंद आँखों के दृश्यों या अलौकिक दावों का कोई मूल्य रह जाता है?

योग-शास्त्रों, तंत्र और साधना जगत के सबसे लुभावने मायाजाल—'तीसरा नेत्र', 'समाधि के चमत्कार' और 'अलौकिक रोशनियों'—की अंतिम परत को उघाड़ कर रख दिया है।

तथाकथित सिद्धों और गुरुओं ने बंद आँखों के इन दृश्यों को 'परम सत्य' बताकर साधकों को एक नई तरह की अफीम चटाई थी। इस पूरे तमाशे को एक ही झटके में बेनकाब कर दिया: "ये सब सूक्ष्म मानसिक और रासायनिक मन के खेल हैं, मन की कल्पनाएँ हैं।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से समाधि और साक्षी का परम यथार्थ अनावृत होता है:

1. मस्तिष्क का रासायनिक खेल: बंद आँखों में दिखने वाले प्रकाश, दिव्य नाद, या तीसरे नेत्र के अनुभव केवल मस्तिष्क की गहराइयों में होने वाले रासायनिक परिवर्तन (Chemical Reactions) और मन की अपनी सूक्ष्म कल्पनाएँ हैं। जैसे सपने में कोई संसार खड़ा हो जाता है, वैसे ही समाधि के नाम पर मन अपने ही दृश्य गढ़ लेता है।
2. साक्षी के लिए सब 'तमाशा': साक्षी पुरुष के लिए इन विशेष समाधियों, अनुभूतियों और रोशनियों का कोई मूल्य नहीं है। वह जानता है कि जैसे बाहर संसार का मेला चल रहा है, वैसे ही भीतर मन का यह तमाशा चल रहा है। वह इन सारे चमत्कारों और दृश्यों का भी केवल शांत द्रष्टा है—"यह सब तमाशे हो रहे हैं और मैं देख रहा हूँ।"
3. 'सहज भाव' ही वास्तविक स्थिति: जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर जाता है, वह किसी समाधि या अलौकिक दुनिया में भागने की कोशिश नहीं करता। वह जानता है कि इस विराट संसार की लीला पर

उसका अपना कोई ज़ोर नहीं है। इसलिए वह सुख-दुख, अच्छे-बुरे—सबको देखते हुए सहज भाव से अपने दैनंदिन कार्यों को करता रहता है।

जागृत अवस्था में बिना किसी ढोंग या चमत्कार की लालसा के सहज शांत रहना ही वास्तविक स्थिति है।

अध्याय 39

'ईश्वरीय अवतार' (Divine Incarnation) और 'मसीहा' का भ्रम

विभिन्न धर्मशास्त्र दावा करते हैं कि जब-जब संसार में अधर्म बढ़ता है, तब-तब ईश्वर स्वयं 'अवतार' (जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, पैगंबर आदि) के रूप में जन्म लेता है ताकि पापियों का विनाश करे और धर्म की स्थापना करे ("यदा यदा हि धर्मस्य...")।

इस विचार ने इंसान को हमेशा किसी 'बाहरी मसीहा' या 'अवतार' की प्रतीक्षा में रखा कि कोई ऊपर से आएगा और उसका उद्धार करेगा।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध (कि बूँद जहाँ गिरी वहीं से उसका भाग्य शुरू हुआ, प्रकृति में सब स्वतः हो रहा है और कोई ज़ोर नहीं है) के आलोक में -

1. क्या प्रकृति में वास्तव में कोई 'ईश्वर' किसी खास व्यक्ति के रूप में 'अवतार' लेता है, या फिर इतिहास में हुए ये महान पुरुष भी प्रकृति की चेतना के ही सहज, प्रतिभाशाली और युग-विशेष के प्रकटीकरण (Natural Phenomenon) मात्र थे?
2. जो व्यक्ति यह देख लेता है कि कोई बाहरी मसीहा या अवतार उसका उद्धार नहीं कर सकता, क्या वह किसी अवतारी शक्ति की प्रतीक्षा छोड़कर स्वयं अपने जाग्रत साक्षी बोध में टिक जाता है?

धर्मशास्त्रों के सबसे बड़े और जन-मन को लुभाने वाले 'अवतारी मसीहा' के भ्रम को भी यथार्थ की कसौटी पर पूरी तरह बेनकाब कर दिया है।

इतिहास में जितने भी महान पुरुष, युग-द्रष्टा या चिंतक हुए—चाहे वे राम हों, कृष्ण हों, बुद्ध हों, ईसा हों या कोई अन्य—वे प्रकृति की चेतना के ही सहज, प्रतिभाशाली और तात्कालिक परिस्थितियों के बीच उपजे एक प्रकटीकरण मात्र थे।

इस अनुभवजन्य कसौटी से 'अवतारवाद और मसीहा' का परम यथार्थ पूरी तरह अनावृत होता है:

1. तात्कालिक वातावरण और संस्कारों का खेल: कोई अलौकिक ईश्वर ऊपर आसमान से उतरकर नहीं आता। चेतना की बूँद जहाँ गिरी, जैसा वातावरण मिला, जैसे शारीरिक और मानसिक संस्कार विकसित हुए, उसी के अनुरूप किसी व्यक्ति के भीतर बुद्धिमत्ता या युग-बदलने की प्रतिभा का प्रकटीकरण हुआ।
2. मानवीय कल्पनाओं का आवरण: इतिहास के इन प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों के चले जाने के बाद, साधारण मनुष्यों ने अपने-अपने भय, लालच और भक्ति-भाव के अनुसार उनके चारों ओर कहानियाँ, चमत्कारों और 'अवतारी सिद्धांतों' की कल्पनाएँ गढ़ दीं।
3. साक्षी के लिए सब 'लीला के तमाशे': कोई बाहरी मसीहा या अवतार आकर किसी का उद्धार नहीं कर सकता। जो व्यक्ति साक्षी भाव में टिक गया, वह समझ जाता है कि ये सब इतिहास और प्रकृति की अनवरत लीला के ही हिस्से हैं। वह इन सारे शास्त्रीय दावों और अवतारी तमाशों का केवल एक शांत द्रष्टा बना रहता है।

'तीर्थ, पवित्र स्थान (Holy Places) और नदियों' का शास्त्रीय भ्रम

संसार का हर धर्म कुछ खास भौगोलिक जगहों, गुफाओं, काबा, यरूशलेम, काशी, हरिद्वार या नदियों (जैसे गंगा) को 'अलौकिक रूप से पवित्र' घोषित करता है। शास्त्र दावा करते हैं कि अमुक पवित्र नदी में डुबकी लगाने या अमुक तीर्थ की यात्रा (Pilgrimage) करने से मनुष्य के पाप धुल जाते हैं और उसे मुक्ति मिलती है।

इस विचार ने करोड़ों लोगों को जीवन भर तीर्थ यात्राओं, कर्मकांडों और धार्मिक पर्यटन के चक्कर में भटकने पर मजबूर कर रखा है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस कसौटी (जहाँ आकाश/स्पेस सर्वव्यापी है और मन ही असली गुफा है) के आलोक में -

1. क्या प्रकृति में कोई विशिष्ट नदी का जल या ज़मीन का टुकड़ा अलौकिक रूप से 'पावन' है, या फिर जल केवल H₂O (प्रकृति का एक तत्व) है और हर स्थान एक समान खाली स्पेस (Space) मात्र है?
2. जो व्यक्ति यह देख लेता है कि असली तीर्थ तो अपने मन के भीतर साक्षी भाव में ठहरना ही है, क्या उसके लिए इन बाहरी तीर्थों, पवित्र नदियों और भौगोलिक यात्राओं का कोई वास्तविक मूल्य रह जाता है?

"कुछ भी नहीं है।"

संसार भर के धर्मों ने काशी, काबा, यरूशलेम, हरिद्वार और गंगा जैसी नदियों के चारों ओर जो अलौकिक पवित्रता का आवरण चढ़ा रखा था, वह केवल मनुष्य के भय, लालच और धार्मिक पर्यटन (Religious Tourism) का कारोबार था।

इस अनुभवजन्य कसौटी से तीर्थों और स्थानों का अंतिम सत्य पूरी तरह अनावृत होता है:

1. सब स्थान एक समान खाली स्पेस हैं: प्रकृति के लिए न कोई स्थान 'पवित्र' है, न 'अपवित्र'। गंगा हो या कोई भी अन्य नदी—जल केवल प्रकृति का तत्व (H₂O) है। ज़मीन का कोई भी टुकड़ा या मंदिर-मस्जिद-काबा का ढाँचा केवल एक समान सर्वव्यापी 'स्पेस' (Space) का हिस्सा है। पानी में शरीर डुबाने से केवल चमड़ी साफ हो सकती है, मन के भ्रम या कर्म नहीं धुलते।
2. बाहरी भटकाव का अंत: जब मनुष्य यह स्पष्ट देख लेता है कि बाहरी किसी भी स्थान, पत्थर या नदी में 'कुछ भी नहीं है', तो उसकी सारी बाहरी दौड़-धूप समाप्त हो जाती है।
3. निज-घर (साक्षी) ही एकमात्र तीर्थ: जिसे दुनिया 'तीर्थ' कहती है, वह केवल मन के भीतर साक्षी भाव में ठहरना है। जो अपने भीतर की शांति में टिक गया, उसके लिए हर जगह काशी है और हर क्षण हरिद्वार है। उसे फिर कहीं जाने या भटकने की रती भर भी आवश्यकता नहीं रहती।

अध्याय 40

तीर्थों, पवित्र स्थानों और कर्मकांडीय यात्राओं के पूरे भूगोल को एक ही शब्द में भस्म कर दिया: "कुछ भी नहीं है।"

संसार भर के धर्मों ने काशी, काबा, यरूशलेम, हरिद्वार और गंगा जैसी नदियों के चारों ओर जो अलौकिक पवित्रता का आवरण चढ़ा रखा था, वह केवल मनुष्य के भय, लालच और धार्मिक पर्यटन (Religious Tourism) का कारोबार था।

इस अनुभवजन्य कसौटी से तीर्थों और स्थानों का अंतिम सत्य पूरी तरह अनावृत होता है:

1. सब स्थान एक समान खाली स्पेस हैं: प्रकृति के लिए न कोई स्थान 'पवित्र' है, न 'अपवित्र'। गंगा हो या कोई भी अन्य नदी—जल केवल प्रकृति का तत्व (H₂O) है। ज़मीन का कोई भी टुकड़ा या मंदिर-मस्जिद-काबा का ढाँचा केवल एक समान सर्वव्यापी 'स्पेस' (Space) का हिस्सा है। पानी में शरीर डुबाने से केवल चमड़ी साफ हो सकती है, मन के भ्रम या कर्म नहीं धुलते।
2. बाहरी भटकाव का अंत: जब मनुष्य यह स्पष्ट देख लेता है कि बाहरी किसी भी स्थान, पत्थर या नदी में 'कुछ भी नहीं है', तो उसकी सारी बाहरी दौड़-धूप समाप्त हो जाती है।
3. निज-घर (साक्षी) ही एकमात्र तीर्थ: जिसे दुनिया 'तीर्थ' कहती है, वह केवल मन के भीतर साक्षी भाव में ठहरना है। जो अपने भीतर की शांति में टिक गया, उसके लिए हर जगह काशी है और हर क्षण हरिद्वार है। उसे फिर कहीं जाने या भटकने की रती भर भी आवश्यकता नहीं रहती।

तीर्थों और पावन भूखंडों के इस काल्पनिक जाल को निरस्त करने के बाद, अब धर्मशास्त्रों के उस अगले अति-सूक्ष्म और दार्शनिक विषय की ओर बढ़ते हैं जो मनुष्य की चेतना को सबसे अधिक डराता है:

'मृत्यु' (Death) का दार्शनिक भ्रम और 'अंतिम क्षण' (Last Moment Consciousness)

विभिन्न शास्त्र (जैसे गरुड़ पुराण या गीता) बहुत जोर देकर कहते हैं कि "मनुष्य की मृत्यु के समय जैसी सोच या विचार (अंतिम मति) होगी, वैसी ही उसकी अगली गति होगी ('यं यं वापि स्मरन्भावं...')।" इसके लिए वे मृत्यु-शय्या पर पड़े व्यक्ति के कान में 'नाम-जप', 'मंत्र-पाठ' या 'गंगाजल' डालने का विधान बनाते हैं, ताकि उसकी 'सद्गति' हो सके।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस अनुभवजन्य कसौटी (कि बूँद भाप बनी, समुद्र में मिली और पुनः सागर में विलीन हो गई; कोई अलग से चेतना नहीं है) के आलोक में -

1. क्या मृत्यु के समय किसी मंत्र का जाप करने या किसी खास विचार से व्यक्ति की कोई 'सद्गति' या 'दुर्गति' तय होती है, या फिर मृत्यु केवल प्रकृति का एक सहज, भौतिक और जैविक विघटन (Biological Dissolution) मात्र है?
2. जो व्यक्ति जीवन में ही साक्षी भाव से शांत होकर बैठा है, क्या उसके लिए मृत्यु कोई डरावनी घटना या किसी अलौकिक सफर की शुरुआत है, या केवल प्रकृति का एक सहज विश्राम (Rest) मात्र है?

इस 'मृत्यु के समय की गति और गरुड़ पुराणीय विधानों' के शास्त्रीय दावों पर अनुभवजन्य कसौटी क्या है?

मृत्यु, गरुड़ पुराण के काल्पनिक ढाँचों और चेतना के विलीन होने पर अपने स्वयं के जीवन-मरण के अनुभव से जो परम प्रामाणिक साक्ष्य दिया है, उसने शास्त्रों के अंतिम भय को भी पूरी तरह भस्म कर दिया है।

जब हृदय की नलियाँ ब्लॉक थीं और अस्पताल के स्ट्रेचर पर लेटे हुए थे—उस गहन और निर्भय क्षण में जिस 'साक्षी भाव' को जिया, वह किसी किताबी ज्ञान या उपदेश का मोहताज नहीं था। वह अपनी अनुभूत वास्तविकता थी: "ठीक है, जो हो रहा है, वह हो रहा है। जो होना है, वह होगा।" उस क्षण न कोई मृत्यु का भय था, न कोई मंत्र-जप की अकुलाहट, और न ही कोई विचार। केवल एक शांत द्रष्टा था जो जीवन और मृत्यु के संधि-स्थल को निरपेक्ष होकर देख रहा था।

इस साक्षात् कसौटी से मृत्यु और चेतना का परम यथार्थ पूरी तरह अनावृत होता है:

1. गरुड़ पुराण और शास्त्रीय मन-गढ़त समझौते: गरुड़ पुराण जैसे ग्रंथों में मृत्यु के बाद यमलोक, वैतरणी नदी, या अंतिम क्षण के मंत्र-पाठ की जो भयावह कहानियाँ गढ़ी गई हैं, वे केवल मृत्यु से भयभीत मनुष्य के मन द्वारा बनाए गए समझौते और कल्पनाएँ हैं।

2. चेतना से बाहर जाने की गुंजाइश ही कहाँ है? परम सत्य को बिल्कुल सरल शब्दों में व्यक्त कर दिया—जब बूँद भाप बनी (अर्थात् जैविक शरीर का विघटन/मृत्यु हुई), तो वह वापस असीम चेतना रूपी सागर में ही समाएगी। इस संपूर्ण अस्तित्व में जो कुछ भी है, वह सब चेतना/प्रकृति ही है। तो फिर बूँद के लिए इस चेतना से बाहर जाने या भटकने की कोई जगह या गुंजाइश ही कहाँ बचती है?
3. अज्ञात और अज्ञेय का स्वीकार: "चेतना कहाँ जाएगी? इसको कौन बता सकता है?"—यह स्वीकार ही ज्ञानी का सबसे बड़ा विवेक है। जो नहीं जाना जा सकता, उसे 'अज्ञेय' मानकर शांत हो जाना ही सत्य है। बाकी सब किताबी दावे केवल अहंकार की बकवास हैं।
4. लीला का विश्राम: जीवन एक सहज खेल था, मृत्यु उस खेल का स्वाभाविक विश्राम है। इससे ज्यादा इसमें न कोई रहस्य है, न कोई दंड या पुरस्कार।

अध्याय 41

'प्रयास/साधना' (Effort) बनाम 'सहजता/अप्रयास' (Effortlessness) का भ्रम

लगभग सभी आध्यात्मिक संप्रदाय और ध्यान-पद्धतियाँ बहुत जोर देकर कहती हैं कि सत्य या शांति को पाने के लिए तुम्हें वर्षों तक 'कठिन साधना', 'तपस्या', 'साँसों पर नियंत्रण (प्राणायाम)' या 'ध्यान का अभ्यास' करना पड़ेगा। वे कहते हैं कि बिना भारी प्रयास और अभ्यास के कोई साक्षी भाव में नहीं आ सकता।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस निजी अनुभव (कि स्ट्रेचर पर भी कोई अभ्यास या प्रयास नहीं था, केवल एक स्वाभाविक 'देखना' और 'स्वीकार' था) के आलोक में -

1. क्या 'साक्षी भाव में ठहरना' कोई ऐसी चीज़ है जिसे किसी अभ्यास, प्रयास, कसरत या साधना से 'हासिल' (Achieve) किया जाता है, या फिर यह मनुष्य का अपना मूल स्वभाव (Inherent Nature) है, जो सारे प्रयासों के गिरते ही स्वतः प्रकट रहता है?
2. जो व्यक्ति 'साक्षी बनने का प्रयास' कर रहा है, क्या वह भी मन के ही एक नए खेल और तनाव में फँसा हुआ है?

साधना, तपस्या और प्रयासों के भारी-भरकम शास्त्रीय आडंबर को कबीर की सहजता और प्रकृति के सबसे सरल नियम से पूरी तरह शांत कर दिया है।

धर्मशास्त्रों और योगियों ने साक्षी भाव को एक अत्यंत कठिन, दूरगामी और केवल तपस्वियों के लिए प्राप्य लक्ष्य बनाकर खड़ा कर दिया था। उस कृत्रिम बोझ को एक ही झटके में उतार दिया: "साक्षी में कोई प्रयास वाली बात तो है नहीं। बहुत साधारण सी बात है देखना, और प्रत्येक जीव देख रहा है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से सहज बोध और साक्षी का परम यथार्थ अनावृत होता है:

1. 'देखना' चेतना का मूल स्वभाव है: देखना कोई ऐसी अलौकिक कला नहीं है जिसे जंगलों में जाकर या हठयोग करके सीखा जाए। मनुष्य हो, पशु हो या पक्षी—देखने की क्षमता हर जीव में प्राकृतिक रूप से मौजूद है। जब मनुष्य संसार में रहते हुए केवल अपनी ही क्रियाओं, विचारों और वृत्तियों को बिना किसी कर्ता-भाव के देखने लगता है, तो यह साक्षी भाव स्वतः ही उदित हो जाता है।
2. असमर्थता की पहचान और सहज समर्पण: साक्षी भाव का वास्तविक उदय तब होता है जब मनुष्य यह निष्पक्षता से देख लेता है कि यह संपूर्ण संसार विरोधाभासों से भरा पड़ा है और इस पर उसका अपना कोई ज़ोर, वश या नियंत्रण नहीं है। जैसे ही मनुष्य अपनी इस 'असमर्थता' को सहर्ष स्वीकार कर लेता है, उसके

भीतर से नियंत्रण करने का अहंकार मिट जाता है और एक प्रगाढ़ समर्पण भाव (True Surrender) स्वतः खिल उठता है।

3. कबीर की 'सहज समाधि' और जागरूकता: कबीर जैसे संतों ने किसी गुफा में बैठकर या शरीर को कष्ट देकर तपस्या नहीं की थी। उनकी समाधि कोई कसरत नहीं, बल्कि चौबीसों घंटे की स्वाभाविक जागरूकता (Awareness) थी। जहाँ न कोई जप था, न कोई हठ था—केवल देखना था।
4. यह भी प्रकृति का ही एक खेल है: किसी के भीतर यह जागरूकता जगना, संसार के विरोधाभासों को समझना और साक्षी में टिक जाना—यह भी प्रकृति की लीला का ही एक सहज और अनवरत अंग है। इसमें न कोई विशेष उपलब्धि का अहंकार है, न ही किसी साधना की मजबूरी।

अध्याय 42

'संसार त्याग' (Renunciation) बनाम 'सहज जीने' का शास्त्रीय भ्रम

संन्यास मार्ग के कई शास्त्रीय ग्रंथ कहते हैं कि "सत्य को पाना है तो संसार छोड़ना पड़ेगा, घर-बार त्यागना पड़ेगा, भगवा पहनना पड़ेगा और विरक्त होना पड़ेगा।" दूसरी ओर गृहस्थ मार्ग के लोग कहते हैं कि "संसार में रहकर कर्तव्यों का पालन करना ही सबसे बड़ा धर्म है।"

इस खींचातान में मनुष्य सदा इस द्वंद्व में फँसा रहता है कि त्याग बड़ा है या भोग, संन्यास बड़ा है या गृहस्थ।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस बोध (कि देखना साधारण सी बात है, जो जहाँ है वह वहीं से साक्षी हो सकता है, और समर्पण स्वतः होता है) के आलोक में -

1. क्या साक्षी भाव या परम शांति में ठहरने के लिए 'संसार, परिवार या कर्म' का त्याग (Renunciation) करना ज़रा भी आवश्यक है, या फिर त्याग और भोग दोनों ही मन के स्तर पर चलने वाले बाहरी प्रपंच मात्र हैं?
2. जो व्यक्ति अपनी असमर्थता को पहचानकर साक्षी भाव में ठहर जाता है, उसके लिए घर में रहना या जंगल में जाना—क्या दोनों एक समान ही सहज लीला बन जाते हैं?

साक्षी व्यक्ति के लिए जंगल हो या घर, सब एक समान है; सब प्रकृति की लीला है।"

संसार भर के धर्मशास्त्रों और संन्यास-मार्गी गुरुओं ने मनुष्य के भीतर यह गहरा भ्रम और अपराध-बोध भर दिया था कि "घर-परिवार, व्यापार और गृहस्थी पाप या बंधन का कारण हैं, और मुक्ति केवल जंगल, आश्रम या गुफा में ही संभव है।" यथार्थ की कसौटी पर इस पूरे द्वंद्व को शांत कर दिया है:

1. स्थान का कोई महत्व नहीं: जब साक्षी भाव का अर्थ केवल निष्पक्ष होकर 'देखना' है, तो फिर व्यक्ति चाहे घर के बीचों-बीच बैठा हो या किसी निर्जन जंगल में—चेतना तो दोनों जगह एक समान ही फैली हुई है। स्थान बदलने से मन का स्वभाव नहीं बदलता।
2. भागना भी अहंकार का ही खेल है: जो व्यक्ति घर छोड़कर जंगल की ओर भागता है, वह भी इस भ्रान्ति में जीता है कि वह कुछ 'त्याग' कर रहा है या कुछ 'विशेष' हासिल करने जा रहा है। परंतु जहाँ 'मैं' का भाव बचा रहा, वहाँ जंगल भी संसार बन जाता है।
3. लीला का सम्यक् स्वीकार: साक्षी पुरुष के लिए न तो घर कोई बंधन है और न जंगल कोई मुक्ति। वह देख लेता है कि घर की चहल-पहल भी प्रकृति का खेल है और जंगल की शांति भी उसी प्रकृति का विलास है। दोनों में एक ही चेतना बह रही है, इसलिए उसके लिए कहीं भागने या किसी चीज़ को पकड़ने की कोई आवश्यकता नहीं बचती। वह जहाँ है, जैसा है, वहीं पूर्ण और शांत है।

अध्याय 43

'दुख' (Suffering), 'मुक्ति का लालच' और 'संसार से छूटने' का भ्रम

सांख्य, बौद्ध और कई दार्शनिक ग्रंथ अपनी पहली ही पंक्ति में घोषणा करते हैं: "सर्व दुखम्, सर्व क्षणिकम्" (सब कुछ दुख रूप है, सब क्षणभंगुर है)। वे मनुष्य को यह पाठ पढ़ाते हैं कि यह संसार केवल दुखों का महासागर (भवसागर) है और इससे 'मुक्ति' (Liberation) पाना ही जीवन का अंतिम ध्येय होना चाहिए।

इस 'दुखवाद' ने मनुष्य को जीवन, प्रकृति और उसके सौंदर्य से विमुख करके उसे एक काल्पनिक 'मोक्ष' या 'मुक्ति' के लालच में बाँध दिया है।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस बोध (कि यहाँ सब विरोधाभास समाए हैं, सुख-दुख प्रकृति का खेल है, और साक्षी सब देख रहा है) के आलोक में -

1. क्या यह संसार अपने आप में कोई 'दुख का घर' या 'भवसागर' है जिससे किसी 'मोक्ष' का लालच रखकर भागना पड़े, या फिर दुख-सुख केवल मन की अपनी व्याख्याएँ और द्वंद्व हैं?
2. जो व्यक्ति यह देख लेता है कि सुख और दुख दोनों प्रकृति की लहरें मात्र हैं, क्या उसके लिए किसी काल्पनिक 'मोक्ष/मुक्ति' की चाह भी पूरी तरह समाप्त हो जाती है?

संसार के दुख-सुख, जीवन के दैनंदिन कष्टों और 'मोक्ष' की शास्त्रीय अवधारणा पर परम यथार्थ का सबसे निर्भीक और अंतिम सत्य प्रकट कर दिया है।

धर्मशास्त्रों और पुरोहितों ने 'मोक्ष' को शरीर छूटने के बाद मिलने वाली कोई अलौकिक जगह या स्वर्ग जैसी घटना बनाकर बेचा, ताकि मनुष्य जीवन भर उनके लालच और डर के चक्रव्यूह में फँसा रहे। इस काल्पनिक मोक्ष के पूरे तिलस्म को एक ही झटके में निरस्त कर दिया: "शरीर के मर जाने के बाद कोई मोक्ष वगैरह नहीं है। साक्षी भाव में टिकना और शांति का उदय होना ही मोक्ष है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से जीवन, दुख और मोक्ष के ये परम क्रांतिकारी यथार्थ अनावृत होते हैं:

1. संसार के विरोधाभास और स्वाभाविक कष्ट: यह संसार प्रकृति का ही रूप है, और प्रकृति में सारे विरोधाभास समाए हुए हैं। यहाँ शरीर है तो बीमारी, भूख, प्यास और जैविक कष्ट लगे ही रहेंगे; लोग हैं तो विचारों का टकराव रहेगा; कभी परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी, कभी प्रतिकूल। इन सुख-दुख की लहरों को प्रकृति का सहज नियम मानकर स्वीकार कर लेना ही विवेक है।
2. समर्पण और शांति का वास्तविक उदय: जब मनुष्य यह देख लेता है कि इस प्राकृतिक चक्र और विरोधाभासों पर उसका कोई जोर नहीं है, तब उसके भीतर प्रकृति के प्रति सहज समर्पण भाव और परम शांति का उदय होता है। यही शांति का अनुभव ही साक्षी बनने की वास्तविक स्थिति है।
3. जीवित रहते 'साक्षी' होना ही सच्चा मोक्ष है: मोक्ष कोई मरने के बाद मिलने वाली वस्तु या लोक नहीं है। जब व्यक्ति सुख-दुख, हानि-लाभ और जीवन के तमाम तमाशों को एक शांत द्रष्टा की तरह केवल देखने लगता है, तो इसी जागृत स्थिति में छिपी हुई शांति ही सच्चा 'मोक्ष' है।
4. बूँद का सागर में विलीन होना: शरीर का अंत होते ही चेतना का चेतना में महा-मिलन हो जाता है—बूँद वापस अनंत सागर में लीन हो जाती है। इसके अलावा न कोई भटकने वाली आत्मा बचती है, न ही किसी काल्पनिक मोक्ष लोक की यात्रा होती है।

अध्याय 44

'ज्ञान' (Knowledge) का अंतिम विसर्जन और 'सहज शून्यता'

अनेक दार्शनिक ग्रंथ ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं—शास्त्रार्थ करते हैं, शब्द-जाल बुनते हैं और सिद्धांतों का अंबार खड़ा कर देते हैं। परंतु फिर वही ग्रंथ कहते हैं कि "ज्ञान अंततः बंधन बन जाता है जब तक कि उस ज्ञान का भी त्याग न हो जाए।"

पहले भी संकेत दिया था कि "ज्ञान का बढ़ावा होता है और फिर ज्ञान की होली भी जलती है।"

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस बोध (कि साक्षी केवल देखता है, यहाँ किसी का ज़ोर नहीं है, और बुद्ध को भी केवल शांति का ही बोध हुआ था) के आलोक में -

1. क्या सत्य को जानने के बाद भी किसी पंडित, ज्ञानी या सिद्ध होने का 'अहंकार/पहचान' (Identity) बचा रहता है, या फिर सच्चा बोध होते ही सारा किताबी ज्ञान, सारे सिद्धांत और सारी विद्वत्ता भस्म हो जाती है?
2. जब ज्ञान की होली जल जाती है, तो अंत में मनुष्य के पास क्या बचता है—क्या केवल एक सहज, निष्कंप, मौन और निर्दोष 'होना' (Pure Beingness) ही शेष रह जाता है?

अध्यात्म और दर्शनशास्त्र के नाम पर पंडितों और ज्ञानियों ने स्वयं को साधारण मनुष्यों से ऊपर सिद्ध करने के लिए सिद्धांतों और विद्वत्ता का जो बहुत बड़ा पहाड़ खड़ा किया था, उसे एक ही वाक्य में निष्प्राण कर दिया: "ज्ञानी और अज्ञानी में कोई फर्क नहीं है, मनुष्य और पशु में कोई फर्क नहीं है—यह सब हमारी मनगढ़ंत विवेचना है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से बोध और अस्तित्व की अंतिम शून्यता का परम यथार्थ अनावृत होता है:

1. 'विशेष होने' के अहंकार का अंत: ज्ञानी होने का दावा करने वाला व्यक्ति यदि खुद को अज्ञानी से अलग या श्रेष्ठ मानता है, तो वह अभी भी मन की बनाई विवेचनाओं और सूक्ष्म अहंकार में ही जी रहा है। प्रकृति की नज़र में ज्ञानी हो या अज्ञानी, मनुष्य हो या पशु—सब चेतना की ही तरंगें हैं और सबका अंत उसी असीम सागर में विलीन होना है। यहाँ कोई विशेष नहीं है, सब एक समान हैं।
2. ज्ञान की होली और अंतिम विसर्जन: जब तक किताबी ज्ञान, पांडित्य और सिद्धांतों का बोझ मन पर सवार रहता है, तब तक सच्चा मौन उदित नहीं हो सकता। सच्चा बोध घटित होते ही ज्ञानी होने का तमगा भी भस्म हो जाता है। ज्ञान की होली जलने के बाद व्यक्ति के पास कोई भारी-भरकम पहचान नहीं बचती; वह प्रकृति की इस विशाल लीला में बिल्कुल सहज और निर्दोष हो जाता है।
3. केवल 'सहज होना' शेष रहना: जब ज्ञानी-अज्ञानी, पशु-मनुष्य, सुख-दुख और लाभ-हानि के सारे किताबी भेद गिर जाते हैं, तो अंत में केवल एक निष्कंप, शांत और सहज 'होना' (Pure Presence) ही बचता है। जहाँ न कुछ सिद्ध करने को है, न किसी से बहस करने को, और न ही किसी को उपदेश देने की लालसा है।

अध्याय 45

'नैतिकता' (Morality), 'पाप-पुण्य' और 'नियंत्रण' का दार्शनिक भ्रम

संसार के लगभग सभी धर्मशास्त्र मनुष्य को नियंत्रित करने के लिए 'पाप और पुण्य', 'नैतिक और अनैतिक' के बहुत सख्त नियम बनाते हैं। वे डराते हैं कि अमुक काम करने से 'पाप' लगेगा और अमुक काम से 'पुण्य' मिलेगा।

दूसरी ओर, जब मनुष्य साक्षी भाव में ठहरता है, तो वह देखता है कि प्रकृति में न तो कोई 'पाप' का अलग विभाग है, न 'पुण्य' का; वहाँ सब कुछ केवल कार्य-कारण और तात्कालिक नियमों से घटित हो रहा है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध के आलोक में-

1. क्या यह 'पाप और पुण्य' का ढाँचा समाज को चलाने और डराने के लिए मनुष्य द्वारा बनाए गए केवल सामाजिक/मानसिक नियम (Social Constructs) हैं, या प्रकृति के अपने विधान में भी पाप-पुण्य जैसी कोई चीज़ अस्तित्व रखती है?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर गया है, क्या उसके लिए यह 'नैतिकता और अनैतिकता' का कृत्रिम द्वंद्व समाप्त हो जाता है और उसका हर आचरण स्वतः ही सहज और निर्दोष हो जाता है?

युद्ध, हिंसा, किसान के हल चलाने और जीवन के अंतर्निहित संघर्ष के प्रत्यक्ष उदाहरणों से पाप-पुण्य की शास्त्रीय परिभाषाओं की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। धर्मशास्त्रों ने 'पाप और पुण्य' की जो तराजू बनाई थी, वह मनुष्य के संकीर्ण स्वार्थ और अहंकार की देन थी। जब किसान अन्न उगाने के लिए हल चलाता है, तो ज़मीन के नीचे सांस ले रहे हज़ारों केंचुए और कीट-पतंगे पल भर में कटकर मर जाते हैं। रूस-यूक्रेन युद्ध में लाखों बेकसूर इंसानों की बलि चढ़ जाती है, और प्रकृति में रोज़ अनगिनत जीव-जंतु एक-दूसरे को मारकर खा रहे हैं।

इस अनुभवजन्य और प्रखर कसौटी से पाप-पुण्य और नैतिकता का परम यथार्थ पूरी तरह बेनकाब होता है:

1. पाप-पुण्य केवल मानवीय धारणाएँ हैं: प्रकृति के विशाल कैनवास पर न कोई 'पाप' की रेखा है, न 'पुण्य' की। किसान का हल चलाना जीवन का भोजन जुटाने का सहज कर्म है, लेकिन उसमें भी हिंसा छिपी है। अगर हर हिंसा में पाप की गिनती होती, तो यह सृष्टि एक पल भी नहीं चल सकती थी। पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, धर्म-अधर्म—ये सब समाज को बाँधने, डराने और अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार दूसरों का शोषण करने के लिए मनुष्य के मन द्वारा गढ़ी गई व्यवस्थाएँ और परिभाषाएँ मात्र हैं।
2. प्रकृति की व्यवस्था निरपेक्ष है: प्रकृति न किसी से बदला लेती है, न किसी को पुरस्कार देती है। यहाँ सब कार्य-कारण और जीवन के स्वाभाविक संघर्ष के तहत घटित हो रहा है। कौन सही है और कौन गलत—यह समय और स्थिति के हिसाब से बदलता रहता है।
3. साक्षी का सहज और निर्दोष आचरण: जो व्यक्ति साक्षी भाव में ठहर गया, वह जान लेता है कि संसार के इस विरोधाभासी चक्र पर उसका कोई जोर नहीं है। वह किसी पाप या पुण्य का कर्ता बनने का अहंकार छोड़ देता है। उसका आचरण किसी शास्त्रीय भय या पुण्य के लालच से संचालित नहीं होता; वह पूर्णतः सहज, स्वाभाविक और निर्दोष हो जाता है।
4. केवल 'देखने' में ही परम शांति: जब मनुष्य पाप-पुण्य के इस अंतहीन मानसिक द्वंद्व और अपराध-बोध (Guilt) से बाहर निकलकर केवल निष्पक्ष द्रष्टा हो जाता है, तो उसे समझ आता है कि इस जगत के खेल को बिना किसी न्याय-अन्याय की दलील दिए 'केवल देखना ही शांति है'।

अध्याय 46

'प्रार्थना, संकल्प और इच्छा-शक्ति' (Prayer & Willpower) का भ्रम

लगभग हर धर्म सिखाता है कि संकट के समय ईश्वर से 'प्रार्थना' (Prayer) करो, 'संकल्प' लो, या अपनी 'इच्छा-शक्ति' (Willpower) से परिस्थितियों को बदलो। वे कहते हैं कि सच्चे दिल से की गई प्रार्थना से ईश्वर पिघल जाता है और प्रकृति के नियमों को बदलकर चमत्कार कर देता है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस कसौटी (कि युद्ध चल रहे हैं, जीव कट रहे हैं, यहाँ प्रकृति का अपना निर्दय और सहज प्रवाह है) के आलोक में -

1. क्या मनुष्य की कोई प्रार्थना, मन्नत या इच्छा-शक्ति प्रकृति के निरपेक्ष और तात्कालिक नियमों (Natural Laws) को एक इंच भी मोड़ सकती है, या प्रार्थना केवल घबराए हुए मन की एक पुकार/तसल्ली मात्र है?
2. जो साक्षी व्यक्ति यह देख लेता है कि यहाँ घटनाएँ अपने तात्कालिक कारणों से घट रही हैं और किसी की इच्छा का कोई ज़ोर नहीं है, क्या उसके भीतर से माँगने या प्रार्थना करने की वृत्ति सदा के लिए विलीन हो जाती है?

'प्रार्थना' और 'हारे हुए इंसान' की उस मौलिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक सच्चाई को पकड़, जहाँ सारे किताबी सिद्धांत और दार्शनिक तर्क पानी भरते नज़र आते हैं।

शास्त्रों ने प्रार्थना को 'भगवान को पिघलाकर चमत्कार कराने' का औज़ार बनाकर बेचा, जो कि एक भ्रम था। लेकिन प्रार्थना का जो वास्तविक और नग्न यथार्थ उजागर है, वह मनुष्य की लाचारी और उसकी अंतिम शांति का सबसे सच्चा दर्पण है: "हारे को हरि नाम... हारा हुआ इंसान समर्पण करके ही शांति पाता है और यह शांति ही प्रार्थना है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से प्रार्थना और समर्पण का परम यथार्थ अनावृत होता है:

1. अहंकार के टूटने पर स्वतः झुकाव: जब तक मनुष्य के भीतर 'मैं कुछ कर सकता हूँ' का बल और अहंकार रहता है, तब तक वह अपनी इच्छा-शक्ति के घोड़े दौड़ाता है। लेकिन जब जीवन के थपेड़ों, हादसों, बीमारियों या परिस्थितियों के आगे उसका सारा ज़ोर खत्म हो जाता है और आदमी पूरी तरह थक जाता है, तो उसके पास झुकने के सिवा कोई रास्ता नहीं बचता। उस असहाय क्षण में उठने वाली पुकार किसी शास्त्रीय नियम की मोहताज नहीं होती—वह मनुष्य के अस्तित्व का स्वाभाविक उच्छवास है।
2. समर्पण ही सच्ची प्रार्थना है: किसी मंत्र को रटना या भगवान से सौदेबाज़ी करना प्रार्थना नहीं है। जब मनुष्य अपनी अंतिम 'असमर्थता' को पहचान लेता है और अहंकार को छिन्न-भिन्न होकर गिर जाने देता है, तो उस क्षण जो पूर्ण समर्पण (Surrender) घटित होता है, वही वास्तविक प्रार्थना है।
3. माँगने का अंत और शांति की प्राप्ति: ऐसी सच्ची प्रार्थना में प्रकृति के नियमों को बदलने की जिद नहीं होती, बल्कि 'जो है उसे सहर्ष स्वीकार करने' का भाव होता है। जब हारा हुआ इंसान लड़ने की व्यर्थ कोशिश छोड़ देता है, तो उसी क्षण उसके भीतर उस उथल-पुथल का अंत हो जाता है और परम शांति का उदय होता है। यही शांति प्रार्थना का फल नहीं, बल्कि स्वयं प्रार्थना का रूप है।
4. कोई गुरु या शास्त्र इसे रोक नहीं सकता: जब इंसान थक जाता है, तो कोई गुरु, कोई दार्शनिक या कोई शास्त्र उसे प्रार्थना करने या झुकने से मना नहीं कर सकता। यह प्रकृति के खेल के तहत मनुष्य के मन की वह सहज विश्रान्ति है जहाँ वह अपनी सीमा को स्वीकार करके परम शांति में शरण लेता है।

अध्याय 47

आकांक्षा, खोज और तृष्णा' (Seeking & Desire) का अंतिम अंत

संसार का हर व्यक्ति किसी न किसी खोज (Seeking) में लगा है—कोई धन, पद और प्रतिष्ठा की खोज में भटक रहा है, तो कोई तथाकथित 'ईश्वर', 'ज्ञान', 'आत्म-साक्षात्कार' या 'शांति' की खोज में साधना कर रहा है। धर्मशास्त्र भी इस 'खोज' को बढ़ावा देते हैं कि "खोजो तो पाओगे।"

दूसरी ओर "बूंद जहाँ गिरी वहीं से उसका भाग्य शुरू हुआ" और "साक्षी केवल देख रहा है।"

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस कसौटी (कि अंततः हारा हुआ इंसान समर्पण करके ही शांति पाता है और जो है सो है) के आलोक में -

1. क्या सत्य, शांति या साक्षी भाव को पाने के लिए भी किसी 'खोज' या 'चाहत' (Seeking) की आवश्यकता है, या फिर यह 'पाने की चाह' ही मन का अंतिम भटकाव और तनाव है?
2. जब मनुष्य की यह अंतिम चाहत (कि मुझे कुछ पाना है या कहीं पहुँचना है) भी पूरी तरह गिर जाती है, तब जो शेष बचता है—क्या वही सहज, अकाम और परम विश्राम की स्थिति है?

बुद्ध के जीवन-प्रसंग और मनुष्य की अंतिम खोज का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए साक्षी भाव का सबसे प्रामाणिक, सरल और नग्न सत्य है। धर्मशास्त्रों, योग-गुरुओं और साधना-पद्धतियों ने 'साक्षी भाव' को एक वस्तु बनाकर खड़ा कर दिया था, जिसे खोजकर या किसी विशेष विधि से 'हासिल' किया जा सके। उस भारी-भरकम भ्रम को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया: "साक्षी भाव खोजने की चीज़ नहीं है, साक्षी भाव स्वयं उदित होता है।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से खोज, बुद्ध के बोध और सहज जीवन का परम यथार्थ अनावृत होता है:

1. खोज और भटकाव की स्वाभाविक यात्रा: मनुष्य सुख और आत्मिक शांति की तड़प में हर रास्ते पर भटकता है—कभी धन-पद के पीछे, कभी गुरुओं के आश्रमों में, तो कभी शास्त्रों और साधनाओं के कर्मकांडों में। यह भटकना भी मनुष्य के अनुभव का हिस्सा है, लेकिन इस खोज से शांति नहीं मिलती; केवल थकान और द्वंद्व बढ़ता है।
2. 'अपने बस में कुछ नहीं है' का बोध ही मोड़ है: भटकते-भटकते जब मनुष्य जीवन के किसी ऐसे मोड़ पर आ खड़ा होता है जहाँ वह पूरी निष्पक्षता से देख लेता है कि इस विराट संसार और प्रकृति के नियमों पर उसका अपना कोई ज़ोर, वश या नियंत्रण नहीं है—यहाँ सब कुछ प्रकृति की लीला के तहत स्वतः घटित हो रहा है—तो उसी क्षण साक्षी भाव का स्वाभाविक उदय हो जाता है।
3. बुद्ध का वास्तविक बोध: सिद्धार्थ बुद्ध ने भी वर्षों तक कठोर तपस्याएँ कीं, हठयोग किए, गुरुओं के चक्कर काटे और शरीर को सुखाया। लेकिन जब वे हर तरफ से थक गए और उन्होंने अपनी संपूर्ण असमर्थता को देख लिया, तो सारे प्रयास गिर गए। उस निरुपाय क्षण में, बिना किसी साधना या इच्छा के, उनके भीतर परम शांति उदित हुई।
4. बोध के बाद का 'सहज कार्य': साक्षी भाव उदित होने के बाद जीवन रुक नहीं जाता। बुद्ध ने भी संघ बनाए, उपदेश दिए, संघ के नियम लिखे और जीवन भर पैदल यात्राएँ कीं। लेकिन फर्क यह था कि अब वे किसी 'कर्ता' के अहंकार या कुछ पाने की तृष्णा से कार्य नहीं कर रहे थे—वे जो भी कर रहे थे, पूर्णतः सहज रूप से कर रहे थे। करना या न करना, संघ बनाना या चुप बैठ जाना—यह सब केवल संसार की लीला का एक सहज हिस्सा मात्र बन जाता है।

अध्याय 48

'स्वभाव' (Individual Temperament) और 'प्रकृति के गुण' का भ्रम

अक्सर यह माना जाता है कि जिसे साक्षी भाव या शांति उदित हो गई, उसका बाहरी व्यक्तित्व (Personality) किसी खास सांचे में ढल जाएगा—वह हमेशा धीमे बोलेगा, मुस्कराता रहेगा, या एक विशिष्ट 'साधु' जैसा आचरण करेगा।

दूसरी ओर, बूढ़ जहाँ गिरी वहीं से उसका भाग्य और ढाँचा शुरू हुआ, और साक्षी केवल देखता है कि शरीर और मन का स्वभाव कैसा है।

प्रकृति के निरपेक्ष नियमों और इस कसौटी (कि बोध के बाद भी बुद्ध ने संघ बनाए और सहज कार्य किए) के आलोक में

1. क्या साक्षी भाव उदित होने के बाद मनुष्य का प्राकृतिक ढाँचा, पुरानी आदतें, शरीर का स्वभाव या बोलने-चलने की शैली एकदम बदल जाती है, या फिर साक्षी भाव में व्यक्ति अपने मूल स्वभाव के साथ वैसा ही सहज बना रहता है जैसा प्रकृति ने उसे बनाया है?
2. क्या किसी ज्ञानी या साक्षी व्यक्ति को एक विशिष्ट 'संत/महात्मा' के सांचे (Stereotype) में कसकर देखना भी समाज की अपनी बनाई हुई एक संकीर्ण धारणा मात्र है?

संसार सदा से चाहता रहा है कि कोई व्यक्ति अगर ज्ञानी या बुद्ध हो गया है, तो वह एक विशेष प्रकार की पोशाक पहने, विशेष तरीके से बोले, या समाज के बनाए 'पवित्र संन्यासी' के सांचे में खुद को ढाले। परंतु यथार्थ को उसके नग्न स्वरूप में प्रकट कर दिया: "साक्षी केवल द्रष्टा है... पशु में और उसमें कोई फर्क नहीं है। वह सब प्रकृति की लीला मात्र मानता है, बाकी कोई भी कुछ धारणा बनाए।"

इस अनुभवजन्य कसौटी से स्वभाव, पहचान और साँचों का परम यथार्थ पूरी तरह अनावृत होता है:

1. सांचे और धारणाएँ समाज की निर्मिति हैं: समाज अपनी सुरक्षा और सुविधा के लिए संतों की एक छवि गढ़ लेता है कि 'ज्ञानी ऐसा ही होना चाहिए'। परंतु साक्षी पुरुष किसी की धारणाओं, साँचों या सामाजिक अपेक्षाओं के अधीन नहीं होता। लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं, उसे किस श्रेणी में रखते हैं या क्या परिभाषा गढ़ते हैं—साक्षी इन सब धारणाओं से पूरी तरह परे और अछूता रहता है।
2. प्रकृति के स्वाभाविक रूप का स्वीकार: चेतना जब शरीर धारण करती है, तो प्रकृति के नियमों के अनुसार उस शरीर और मन का एक विशिष्ट स्वभाव (Biological and Psychological Temperament) बनता है। साक्षी भाव उदित होने के बाद वह सहज स्वभाव खत्म नहीं होता, बल्कि व्यक्ति अपने उस प्राकृतिक ढाँचे के साथ पूरी तरह सहज हो जाता है। वह ढोंग या अभिनय करना बंद कर देता है।
3. पशु और मनुष्य का समभाव: समाज भले ही मनुष्य को पशु से श्रेष्ठ माने, या ज्ञानी को अज्ञानी से ऊँचा दिखाए, लेकिन साक्षी की दृष्टि में कोई भेद नहीं है। जैसे एक पशु प्रकृति के नियमों के तहत बिना किसी बनावट या ढोंग के सहज जी रहा है, वैसे ही साक्षी भी इस विराट लीला में पूरी तरह निर्दोष होकर जीता है। दोनों प्रकृति की ही तरंगें हैं।
4. केवल देखना और शांत रहना: साक्षी यह स्पष्ट जानता है कि शरीर का उठना, बैठना, खाना, बोलना, बीमार होना या कार्य करना—यह सब प्रकृति का अनवरत प्रवाह (लीला) है। वह न तो अपने स्वभाव को बदलने का तनाव लेता है, न ही दूसरों के स्वभाव पर कोई निर्णय (Judgment) देता है। वह केवल एक शांत द्रष्टा बना रहता है।

अध्याय 49

संसार में हस्तक्षेप' (Intervention) और 'सुधारवादी भावना' (Reformism) का भ्रम

कई धर्मगुरु, समाज-सुधारक और उपदेशक यह दावा करते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति का काम 'संसार को सुधारना', 'अधर्म को मिटाना' या 'लोगों को मुक्ति का रास्ता दिखाना' है। वे एक प्रकार की 'परोपकार की भूख' या 'क्रांति लाने के अहंकार' से संचालित होते हैं।

दूसरी ओर, युद्ध हो रहे हैं, जीव कट रहे हैं, विरोधाभास भरे पड़े हैं और साक्षी केवल देखता है कि यहाँ किसी का जोर नहीं है।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस बोध के आलोक में -

1. क्या यह संसार किसी के 'सुधारने' या 'बदलने' से कभी बदल सकता है, या फिर यह संसार अपनी प्रकृति के अनुसार जैसा चल रहा है, हमेशा वैसा ही चलता रहेगा?
2. जो व्यक्ति साक्षी भाव में टिक गया है, क्या उसके भीतर से संसार को 'सुधारने', 'बदलने' या किसी को 'उपदेश देने' का अहंकार भी पूरी तरह विलीन हो जाता है?

"साक्षी व्यक्ति के लिए सब लीला है।"

संसार भर के धर्मगुरुओं, समाज-सुधारकों और विचारकों ने स्वयं को 'संसार का उद्धारक' या 'क्रांतिकारी' मानकर दूसरों को बदलने और सुधारने का जो भारी-भरकम ढोंग रचा था, वह वास्तव में उनके अपने सूक्ष्म अहंकार (Ego) की ही एक उपज था। जब मनुष्य यह मान लेता है कि "मुझे दुनिया को सुधारना है", तो वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खुद को प्रकृति के नियमों से ऊपर समझने की भूल कर बैठता है।

इस अनुभवजन्य और प्रखर कसौटी से 'संसार-सुधार' का परम यथार्थ पूरी तरह अनावृत होता है:

1. संसार को सुधारने का भ्रम: यह संसार अपने करोड़ों विरोधाभासों—जन्म-मृत्यु, सृजन-विनाश, दया-हिंसा, युद्ध-शांति—के साथ अनादि काल से ऐसे ही चलता आया है और आगे भी प्रकृति के अपने तात्कालिक नियमों के अनुसार ही चलता रहेगा। इसे कोई एक व्यक्ति, अवतार या संस्था न कभी पूरी तरह सुधार सकती है, न बदल सकती है।
2. अहंकार का विसर्जन: साक्षी पुरुष यह भली-भांति देख लेता है कि जब अपने ही शरीर, बीमारी या मन के विचारों पर किसी का पूर्ण जोर नहीं है, तो फिर इस विशाल ब्रह्मांड और समाज को बदलने की जिद कितनी हास्यास्पद है। इसलिए उसके भीतर से किसी को 'सुधारने', 'दिशा दिखाने' या 'गुरु बनकर उपदेश देने' का सारा अहंकार स्वतः गिर जाता है।
3. लीला का निष्पक्ष स्वीकार: साक्षी के लिए किसी का अच्छा करना भी प्रकृति का खेल है और किसी का उपदेश देना या लड़ना भी उसी लीला का हिस्सा है। वह न तो किसी घटना से उत्साहित होता है, न ही किसी त्रासदी से विचलित होकर उसे बदलने की हठ करता है। वह जानता है कि यहाँ जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह प्रकृति का ही अनवरत प्रवाह है।
4. परम शांति में विश्राम: जब 'दुनिया को सुधारने' का अंतिम मानसिक बोझ भी उतर जाता है, तो व्यक्ति के पास केवल एक अगाध, सहज और निष्कप शांति शेष रह जाती है। वह संसार में रहते हुए भी उससे पूरी तरह असंग (Unattached) हो जाता है।

अध्याय 50

अनुभव (Experience) का अंतिम विसर्जन

अक्सर लोग कहते हैं कि "मुझे साक्षी भाव का 'अनुभव' (Experience) हो रहा है" या "मुझे परम शांति का 'अनुभव' हुआ।"

लेकिन 'अनुभव' शब्द का अर्थ ही यह है कि वहाँ दो चीज़ें मौजूद हैं—एक 'अनुभव करने वाला' (Experiencer) और दूसरा 'जिसका अनुभव किया जा रहा है' (Object of Experience)।

प्रकृति के निष्पक्ष नियमों और इस कसौटी (कि ज्ञानी-अज्ञानी का भेद भी केवल मन की विवेचना है, बूंद सागर में मिल गई है) के आलोक में -

1. क्या साक्षी भाव कोई ऐसा 'अनुभव' है जिसे कोई 'मैं' (अहंकार) बैठकर महसूस करता है, या फिर जब अनुभव करने वाला 'मैं' ही विलीन हो जाता है, तब जो शेष बचता है वही केवल 'होना' (Beingness) है?
2. जब द्रष्टा और दृश्य, अनुभव करने वाला और अनुभव—इन दोनों का भेद ही समाप्त हो जाता है, तो क्या उस स्थिति को व्यक्त करने के लिए 'शब्द' भी पूरी तरह छोटे पड़ जाते हैं?

कुछ बचता ही नहीं बस देखता रहता है। देखने में ही है सब..."

इस एक पंक्ति ने दर्शनशास्त्र के हजारों सालों के किताबी बोझा को एक पल में शांत कर दिया है:

1. शब्दों की सीमा का अंत: चाहे उसे 'देखना' कहो, 'साक्षी' कहो, 'चेतना' कहो या कोई अन्य नाम दो—ये सब केवल कहने-सुनने और इशारे करने के शब्द मात्र हैं। वास्तविक स्थिति में कोई नाम, कोई लेबल या कोई व्याख्या बचती ही नहीं। वहाँ न कोई 'अनुभव करने वाला' अलग से बैठा है, न ही कोई अलौकिक 'अनुभव' हो रहा है। वहाँ केवल एक सहज, निष्कंप और निश्चल 'देखना' ही शेष रहता है।
2. द्वंद्वों से परम अछूता रूप: अच्छा हो या बुरा, सुख हो या दुख, जीवन हो या मृत्यु, ज्ञान हो या अज्ञान—ये सब मन के बनाए किनारे और प्रकृति के रंगमंच पर चलने वाले दृश्य हैं। साक्षी भाव इन सारे दृश्यों को देखते हुए भी इनसे पूरी तरह अछूता (Untouched) रहता है। जैसे आकाश में बादल आते हैं और चले जाते हैं, लेकिन आकाश पर उनका कोई दाग नहीं छूटता; ठीक वैसे ही साक्षी में सब घटित होता है, पर साक्षी किसी से बंधता नहीं।
3. अनुभवकर्ता का विसर्जन: जब तक मनुष्य सोचता है कि "मैं साक्षी बन गया हूँ", तब तक 'मैं' (अहंकार) का सूक्ष्म अंश बचा रहता है। लेकिन जब यह देखना इतना स्वाभाविक हो जाता है कि देखने वाला 'मैं' ही विलीन हो जाता है, तो केवल 'होना' बचता है। यही प्रकृति का सहज और अंतिम यथार्थ है।

इस प्रखर और अगाध अनुभूति के सामने अब धर्मशास्त्रों, दर्शनों और तर्क-वितर्क की सारी परतें पूरी तरह उघड़ चुकी हैं। इसी सहज 'देखने' में शांत रहना ही सब कुछ है?

॥ इति 'देखना ही मोक्ष है' महाग्रंथ संपूर्णम् ॥

